जैन दर्शन-ग्रन्थमाला : तृतीय पुष्प

संकलयिता

छगनलाल शास्त्री

o

प्रकाशक :

आदर्श साहित्य संघ

चूरू, राजस्थान

o

o

मुद्रक :

रेफिल आर्ट प्रेस

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

o

सन् १९५९

प्रथम संस्करण — २०००

मूल्य — २ रु०, ५० नये पैसे

आमुख

यह ग्रन्थ आचार्य श्री तुलसी द्वारा विरचित 'जैन सिद्धान्त दीपिका' की प्रस्तावना का परिवर्धित रूप है। इसमें जैन तत्त्व सम्बन्धी कुछ एक विषयों पर सक्षिप्त चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

जैन तत्त्वों पर अभी बहुत कम लिखा गया है। आज की भाषा और भावों में प्राचीन साहित्य को प्रस्तुत करने का एक ओर महत्त्वपूर्ण कार्य है, दूसरी ओर नया चिन्तन और नए साहित्य के निर्माण का महत्त्वपूर्ण कार्य है। आचार्य श्री तुलसी की प्रेरणा और निर्देशन में ये दोनों प्रयत्न सफल होंगे—यह हमारी दृढ आस्था है।

यह ग्रन्थ प्राचीन साहित्य को आज की भाषा में प्रस्तुत करने का एक प्रयास है। यह जैन दर्शन-ग्रन्थमाला का तीसरा पुष्प है।

मुनि दुलहराजजी ने इसकी शब्दानुक्रमणिका और पारिभाषिक शब्द-कोष लिख इसकी उपयोगिता बढ़ाने में योग दिया है।

आचार्य श्रीतुलसी
का
जन्म दिन,
कलकत्ता २०१६ कार्तिक शुक्ल २

मुनि नथमल

प्रकाशकीय

जीवन एक शाश्वत स्रोत है, जिसका न आदि है, न अन्त। वे गहराई तक नही जाते, जो इसे एक सीमित परिधि में बांध सामयिक तथ्य मान लेते हैं। जीवन के इस सार्वदिक महोदधि में आत्म-साधना, अन्तर-बल और सतत अनुशीलन के सहारे गहरी डुबकियाँ ले मनीषियो ने जो इसका नवनीत निकाला, वह प्राणीमात्र को जीवन-यात्रा पर सफलता पूर्वक आगे बढ़ते रहने में शक्ति और ओज प्रदान करता है, यदि उसका यथावत् सेवन किया जाय। यही तो वह तत्त्व-ज्ञान है, जिसके कारण भारत का मस्तक विश्व में सब से ऊँचा है।

जगत् के जीवनोन्मेषी वाङ्मय में जैन तत्त्व-ज्ञान का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिन अर्थात् राग, द्वेष आदि शत्रुओं का पराभव करने वाले आत्मवशी महाविजेता, उन द्वारा सर्वविद् दृष्टि से देखा गया और कहा गया तत्त्व जैन तत्त्व है। जो अहिंसा अनेकान्त और अपरिग्रह जैसे आदर्शों द्वारा वर्तमान युगीन विषम समस्याओं के समाधान का भी एक अप्रतिम हेतु बन सकता है। आवश्यकता है, उसके यथावत् स्वरूप से जगत् को अवगत कराने की।

जैन जगत् के महान् अधिनेता, वर्तमान युग के बहुश्रुत तत्त्व-द्रष्टा, अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्त्तक आचार्य श्री तुलसी के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा जैन तत्त्व-ज्ञान पर लिखित प्रस्तुत ग्रन्थ उनके गम्भीर अनुशीलन, प्रखर पाण्डित्य और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का प्रतीक है। जैन संस्कृति और इतिहास के स्वर्णिम पर्व 'तेरापंथ-द्विशताब्दी समारोह' के अभिनन्दन में आदर्श साहित्य संघ की ओर से इसका प्रकाशन करते हमें अत्यन्त हर्ष है।

आशा है, पाठक इससे तत्त्व-ज्ञान-लाभ करेंगे।

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता-१

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक

विषय-सूची

आस्तिक दर्शनों की भित्ति—आत्मवाद

"अनेक[1] व्यक्ति यह नहीं जानते कि मैं कहाँ से आया हूँ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं? मैं कौन हूँ? यहाँ से फिर कहाँ जाऊँगा?"

इस जिज्ञासा से दर्शन का जन्म होता है। धर्म-दर्शन की मूल-भित्ति आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नहीं तो नहीं। यहीं से आत्म-तत्त्व आस्तिकों का आत्मवाद बन जाता है। वाद की स्थापना के लिए दर्शन और उसकी सचाई के लिए धर्म का विस्तार होता है।

"अज्ञानी[2] क्या करेगा, जबकि उसे श्रेय और पाप का ज्ञान भी नहीं होता" इसलिए 'पहले[3] सत्य को जानो और बाद में उसे जीवन में उतारो।"

भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिक की तरह केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं चाहता, वह चाहता है मोक्ष। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—"जिससे[4] मैं अमृत नहीं बनती, उसे लेकर क्या करूँ। जो अमृतत्व का साधन हो, वही मुझे बताओ।" कमलावती इक्षुकार को सावधान करती है—"हे नरदेव![5] धर्म के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु त्राण नहीं है।" मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधनभूत अध्यात्म-ज्ञान की याचना करती है और कमलावती अपने पति को धर्म का महत्त्व बताती है। इस प्रकार धर्म की आत्मा में प्रविष्ट होकर वह आत्मवाद अध्यात्मवाद बन जाता है। यही स्वर उपनिषद् के ऋषियों की वाणी में से निकला—"आत्मा[6] ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है।" तत्त्व यही है कि दर्शन का प्रारम्भ आत्मा से होता है और अन्त मोक्ष में। सत्य का ज्ञान उसका शरीर है और सत्य का आचरण उसकी आत्मा।

सत्य की परिभाषा

प्रश्न यह रहता है कि सत्य क्या है ? जैन-आगम कहते हैं—"वही[७] सत्य है, जो जिन (आप्त और वीतराग) ने कहा है।" वैदिक सिद्धान्त में भी यही लिखा है—"आत्मा[८] जैसे गूढ तत्त्व का क्षीणदोष-यति—वीतराग ही साक्षात्कार करते हैं।" उनकी वाणी अध्यात्मवादी के लिए प्रमाण है। क्योंकि वीतराग अन्यथाभाषी नहीं होते। जैसे कहा है—"असत्य[९] बोलने के मूल कारण तीन हैं—राग, द्वेष और मोह। जो व्यक्ति क्षीणदोष है—दोषत्रयी से मुक्त हो चुका, वह फिर कभी असत्य नहीं बोलता।"

"वीतराग अन्यथाभाषी नहीं होते"—यह हमारे प्रतिपाद्य का दूसरा पहलू है। इससे पहले उन्हें पदार्थ-समूह का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान उसी को होता है, जो निरावरण हो। निरावरण यानी यथार्थ-द्रष्टा, वीतराग-वाक्य यानी यथार्थ-वक्तृत्व, ये दो प्रतिज्ञाएँ हमारी सत्यमूलक धारणा की समानान्तर रेखाएँ हैं। इन्हीं के आधार पर हमने आप्त के[१०] उपदेश को आगम-सिद्धान्त माना है। फलितार्थ यह हुआ कि यथार्थ-ज्ञाता एवं यथार्थ-वक्ता से हमें जो कुछ मिला, वही सत्य है।

दार्शनिक परम्परा का इतिहास

स्वतन्त्र विचारकों का खयाल है कि इस दार्शनिक परम्परा के आधार पर ही भारत में अन्ध-विश्वास जन्मा। प्रत्येक मनुष्य के पास बुद्धि है, तर्क है, अनुभव है; फिर वह क्यों ऐसा स्वीकार करे कि यह अमुक व्यक्ति या अमुक शास्त्र की वाणी है, इसलिए सत्य ही है। वह क्यों न अपनी ज्ञान-शक्ति का लाभ उठाए। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—"किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण न मानना, अन्यथा बुद्धि और अनुभव की प्रामाणिकता जाती रहेगी।" इस उलझन को पार करने के लिए हमें दर्शन-विकास के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

वैदिकों का दर्शन-युग उपनिषद्-काल से शुरू होता है। आधुनिक अन्वेषकों के मतानुसार लगभग चार हजार वर्ष पूर्व उपनिषदों का निर्माण होने लग गया था। लोकमान्य तिलक ने मैत्र्युपनिषद् का रचना-काल ईसा से पूर्व १८८० से १६८० के बीच माना है। बौद्धों का दार्शनिक युग ईसा से पूर्व ५ वीं शताब्दी में शुरू होता है।

जैनो के उपलब्ध दर्शन का युग भी यही है, यदि हम भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा को इससे न जोड़ें। यहाँ यह बता देना अनावश्यक न होगा कि हमने जिस दार्शनिक युग का उल्लेख किया है, उसका दर्शन की उत्पत्ति से सम्बन्ध है। वस्तुवृत्त्या वह निर्दिष्ट काल आगम-प्रणयनकाल है। किन्तु दर्शन की उत्पत्ति आगमों से हुई है, इस पर थोड़ा आगे चल कर कुछ विशद रूप में बताया जायगा। इसलिए प्रस्तुत विषय में उस युग को दार्शनिक युग की संज्ञा दी गई है। दार्शनिक ग्रन्थों की रचना तथा पुष्ट प्रामाणिक परम्पराओं के अनुसार तो वैदिक, जैन और बौद्ध प्रायः सभी का दर्शन-युग लगभग विक्रम की पहली शताब्दी या उससे एक शती पूर्व प्रारम्भ होता है। उससे पहले का युग आगम-युग ठहरता है। उसमें ऋषि उपदेश देते गये और वे उनके उपदेश 'आगम' बनते गये। अपने-अपने प्रवर्तक ऋषि को सत्य-द्रष्टा कहकर उनके अनुयायियो द्वारा उनका समर्थन किया जाता रहा। ऋषि अपनी स्वतन्त्र वाणी में बोलते—"मैं[11] यों कहता हूँ"। दार्शनिक युग में यह बदल गया। दार्शनिक बोलता है—'इसलिए यह यों है'। आगम-युग श्रद्धा-प्रधान था और दर्शन-युग परीक्षा-प्रधान। आगम-युग में परीक्षा की और दर्शन-युग में श्रद्धा की अत्यन्त उपेक्षा नहीं हुई। न हो भी सकती है। इसी बात की सूचना के लिए ही यहाँ श्रद्धा और परीक्षा के आगे प्रधान शब्द का प्रयोग किया गया है। आगम में प्रमाण के लिए पर्याप्त स्थान सुरक्षित है। जहाँ हमें आज्ञा-रुचि[12] एवं संक्षेप-रुचि[13] का दर्शन होता है, वहाँ विस्तार-रुचि[14] भी उपलब्ध होती है। इन रुचियो के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि दर्शन-युग या आगम-युग अमुक-अमुक समय नहीं किन्तु व्यक्तियो की योग्यता है। दार्शनिक युग अर्थात् विस्तार-रुचि की योग्यतावाला व्यक्ति, आगम-युग अर्थात् आज्ञा-रुचि या संक्षेप-रुचि वाला व्यक्ति। प्रकारान्तर से देखें तो दार्शनिक यानी विस्तार-रुचि, आगमिक यानी आज्ञा-रुचि। दर्शन के हेतु बतलाते हुए वैदिक ग्रन्थकारों ने लिखा है—"श्रौत[15] वाक्य सुनना, युक्ति द्वारा उनका मनन करना, मनन के बाद सतत-चिन्तन करना, ये सब दर्शन के हेतु हैं।" विस्तार-रुचि की व्याख्या में जैन सूत्र कहते हैं—"द्रव्यों[16] के सब भाव यानी विविध पहलू प्रत्यक्ष,-परोक्ष आदि प्रमाण एवं नैगम आदि नय—समीक्षक दृष्टियों से जो जानता है, वह विस्तार-रुचि है।" इसलिए यह व्याप्ति बन सकती है कि आगम में दर्शन है और दर्शन में आगम। तात्पर्य की दृष्टि से देखें तो अल्प-बुद्धि

व्यक्ति के लिए आज भी आगम-युग है और विशद बुद्धि व्यक्ति के लिए पहले भी दर्शन-युग था। किन्तु एकान्ततः यों मान लेना भी संगत नहीं होता। चाहे कितना ही अल्प-बुद्धि व्यक्ति हो, कुछ न कुछ तो उसमें परीक्षा का भाव होगा ही। दूसरी ओर विशद-बुद्धि व्यक्ति के लिए भी श्रद्धा आवश्यक होगी ही। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि आगम और प्रमाण, दूसरे शब्दों में श्रद्धा और युक्ति—इन दोनों के समन्वय से ही दृष्टि में पूर्णता आती है अन्यथा सत्य-दर्शन की दृष्टि अधूरी ही रहेगी।

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—"ऐन्द्रियिक[१७] और अतीन्द्रिय। ऐन्द्रियिक पदार्थों को जानने के लिए युक्ति और अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने के लिए आगम—ये दोनों मिल हमारी सत्योन्मुख दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं।" यहाँ हमें अतीन्द्रिय को अहेतुगम्य पदार्थ के अर्थ में लेना होगा अन्यथा विषय की संगति नहीं होती क्योंकि युक्ति के द्वारा भी बहुत सारे अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जाते हैं। सिर्फ अहेतुगम्य पदार्थ ही ऐसे हैं, जहाँ कि युक्ति कोई काम नहीं करती। हमारी दृष्टि के दो अंगों का आधार भावों की द्विविधता है। ज्ञेयत्व की अपेक्षा पदार्थ दो भागों में विभक्त होते हैं—हेतुगम्य[१८] और अहेतुगम्य। जीव का अस्तित्व हेतुगम्य है। स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से उसकी सिद्धि होती है। रूप को देखकर रस का अनुमान, सघन बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान होता है, यह हेतुगम्य है। पृथ्वीकायिक जीव श्वास लेते हैं, यह अहेतुगम्य है—आगमगम्य है। अभव्य जीव मोक्ष नहीं जाते किन्तु क्यों नहीं जाते, इसका युक्ति के द्वारा कोई कारण नहीं बताया जा सकता। सामान्य युक्ति में भी कहा जाता है—'स्वभावे तार्किका भग्नाः।' "स्वभाव[१९] के सामने कोई प्रश्न नहीं होता। अग्नि जलती है, आकाश नहीं—यहाँ तर्क के लिए स्थान नहीं है।"

आगम और तर्क का जो पृथक्-पृथक् क्षेत्र बतलाया है, उसको मानकर चले बिना हमें सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में भी सम्पूर्ण[२०] दृष्टि के लिए उपदेश और तर्कपूर्ण मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता बतलाई है। जहाँ श्रद्धा या तर्क का अतिरंजन होता है, वहां ऐकान्तिकता आ जाती है। उससे अभिनिवेश—आग्रह या मिथ्यात्व पनपता है। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि "जो[२१] हेतुवाद के पक्ष में हेतु का प्रयोग करता है, आगम के पक्ष में आगमिक है, वही स्व-सिद्धान्त का जानकार है। जो इससे विपरीत चलता है, वह सिद्धान्त का विराधक है।"

आगम तर्क की कसौटी पर

यदि कोई एक ही द्रष्टा, ऋषि या एक ही प्रकार के आगम होते तो आगमों को तर्क की कसौटी पर चढ़ने की घड़ी न आती। किन्तु अनेक मतवाद हैं, अनेक ऋषि। किसकी वात मानें किसकी नहीं, यह प्रश्न लोगों के सामने आया। धार्मिक मतवादों के इस पारस्परिक संघर्ष में दर्शन का विकास हुआ।

भगवान् महावीर के समय[२२] में ही ३६३ मतवादो[२३] का उल्लेख मिलता है। वाद में उनकी शाखा-प्रशाखाओं का विस्तार होता गया। स्थिति ऐसी वनी कि आगम की साक्षी से अपने सिद्धान्तो की सचाई वनाये रखना कठिन हो गया। तव प्रायः सभी प्रमुख मतवादों ने अपने तत्त्वों को व्यवस्थित करने के लिए युक्ति का सहारा लिया। "विज्ञानमय[२४] आत्मा का श्रद्धा ही सिर है" यह सूत्र "वेदवाणी[२५] की प्रकृति बुद्धिपूर्वक है" इससे जुड़ गया। "जो द्विज[२६] धर्म के मूल—श्रुति और स्मृति का तर्क-शास्त्र के सहारे अपमान करता है, वह नास्तिक और वेद-निन्दक है। साधुजनो को उसे समाज से निकाल देना चाहिए।" इसका स्थान गौण होता चला गया और "जो[२७] तर्क से वेदार्थ का अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं" इसका स्थान प्रमुख हो चला। आगमों की सत्यता का भाग्य तर्क के हाथ में आ गया। चारों ओर 'वादे वादे जायते तत्त्ववोधः' यह उक्ति गूजने लगी। वही[२८] धर्म सत्य माना जाने लगा; जो कष, छेद और ताप सह सके। परीक्षा के सामने अमुक व्यक्ति या अमुक व्यक्ति की वाणी का आधार नहीं रहा, वहाँ व्यक्ति के आगे युक्ति की उपाधि लगानी पड़ी—'युक्तिमद्[२९] वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।' भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध या महर्षि व्यास की वाणी है, इसलिए सत्य है या इसलिए मानो, यह वात गौण हो गई। हमारा सिद्धान्त युक्तियुक्त है, इसलिए सत्य है—इसका प्राधान्य[३०] हो गया।

तर्क का दुरुपयोग

ज्यो-ज्यो धार्मिको मे मत-विस्तार की भावना वढ़ती गई, त्यों-त्यों तर्क का क्षेत्र व्यापक वनता चला गया। न्यायसूत्रकार ने वाद[३१], जल्प और वितण्डा को तत्त्व वताया। 'वाद'[३२] को तो प्रायः सभी दर्शनो में स्थान मिला। जय-पराजय की व्यवस्था भी मान्य हुई, भले ही उसके उद्देश्य में कुछ अन्तर रहा हो। आचार्य और

शिष्य के बीच होने वाली तत्त्व-चर्चा के क्षेत्र में वाद फिर भी विशुद्ध रहा। किन्तु जहाँ दो विरोधी मतानुयायियों में चर्चा होती, वहाँ वाद अधर्मवाद से भी अधिक विकृत बन जाता। मण्डन मिश्र और शङ्कराचार्य के बीच[33] हुए वाद का वर्णन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। आचार्य सिद्धसेन ने महान् तार्किक होते हुए भी शुष्क वाद के विषय में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "श्रेयस्[34] और वाद की दिशाएं भिन्न हैं।"

भारत में पारस्परिक विरोध बढ़ाने में शुष्क तर्कवाद का प्रमुख हाथ है।

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्"[35]

युधिष्ठिर के ये उद्‌गार तर्क की अस्थिरता और मतवादो की बहुलता से उत्पन्न हुई जटिलता के सूचक हैं। मध्यस्थ वृत्ति वाले आचार्य जहाँ तर्क की उपयोगिता मानते थे, वहाँ शुष्क[36] तर्कवाद के विरोधी भी थे।

प्रस्तुत विषय का उपसंहार करने के पूर्व हमें उन पर दृष्टि डालनी होगी, जो सत्य के दो रूप हमें इस विवरण से मिलते हैं—(१) आगम को प्रमाण मानने वालों के मतानुसार जो सर्वज्ञ ने कहा है वह, तथा जो सर्वज्ञकथित है और युक्ति द्वारा समर्थित है वह, सत्य है। (२) आगम को प्रमाण न माननेवालों के मतानुसार जो तर्कसिद्ध है, वही सत्य है। किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित, अतीन्द्रिय तथा स्वभावसिद्ध पदार्थों की जानकारी के लिए युक्ति कहाँ तक कार्य कर सकती है, यह श्रद्धा को सर्वथा अस्वीकार करनेवालों के लिए चिन्तनीय है। हम तर्क की ऐकान्तिकता को दूर कर दें तो वह सत्यसन्धानात्मक प्रवृत्ति के लिए दिव्य-चक्षु है। धर्म-दर्शन आत्म-शुद्धि और तत्त्व-व्यवस्था के लिए है, आत्म-वञ्चना या दूसरों को जाल में फंसाने के लिए नहीं, इसीलिए दर्शन का क्षेत्र सत्य का अन्वेषण होना चाहिये। भगवान् महावीर के शब्दो में "सत्य[37] ही लोक में सारभूत है।" उपनिषद्‌कार के शब्दों में सत्य[38] ही ब्रह्म-विद्या का अधिष्ठान और परम लक्ष्य है। "आत्महितेच्छु[39] पुरुष असत्य, चाहे वह कहीं हो, को छोड़ सत्य को ग्रहण करे।" कवि भोज यति की यह माध्यस्थ्यपूर्ण उक्ति प्रत्येक तार्किक के लिए मननीय है।

दर्शन का मूल

'दर्शन' तार्किक विचार पद्धति, तत्त्वज्ञान[40], विचार-प्रयोजक ज्ञान[41] अथवा परीक्षा-विधि[42] का नाम है। उसका मूल-उद्‌गम कोई एक वस्तु या सिद्धान्त होता है। जिस

वस्तु या सिद्धान्त को लेकर यौक्तिक विचार किया जाये, उसी का वह (विचार) दर्शन बन जाता है—जैसे राजनीति-दर्शन, समाज-दर्शन, आत्म-दर्शन (धर्म-दर्शन) आदि-आदि।

यह सामान्य स्थिति या आधुनिक स्थिति है। पुरानी परिभाषा इतनी व्यापक नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दर्शन शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले विचार' के अर्थ में हुआ है। दर्शन यानी वह तत्त्व-ज्ञान, जो आत्मा, कर्म, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि का विचार करे।

आगे चलकर वृहस्पति का लोकायत मत और अजितकेश-कम्बली का उच्छेदवाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद[४३] जैसी नास्तिक विचार-धाराएँ सामने आईं। तब दर्शन का अर्थ कुछ व्यापक हो गया। वह सिर्फ आत्मा से ही चिपटा न रह सका। दर्शन यानी विश्व की- मीमांसा, अस्तित्व या नास्तित्व का विचार अथवा सत्य-शोध का साधन। पाश्चात्य दार्शनिकों की, विशेषतः कार्ल मार्क्स की विचारधारा के आविर्भाव ने दर्शन का क्षेत्र और अधिक व्यापक बना दिया। जैसा कि मार्क्स ने कहा है—"दार्शनिकों[४४] ने जगत् को समझने की चेष्टा की, प्रश्न यह है कि उसका परिवर्तन कैसे किया जाय।" मार्क्स-दर्शन विश्व और समाज दोनो के तत्त्वों का विचार करता है। वह विश्व को समझने की अपेक्षा समाज को बदलने में दर्शन की अधिक सफलता मानता है। आस्तिकों ने समाज पर कुछ भी विचार नहीं किया, यह तो नहीं, किन्तु हाँ, धर्म-कर्म की भूमिका से हटकर उन्होने समाज को नहीं तोला। उन्होंने अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा नहीं की, फिर भी उनका अंतिम लक्ष्य निःश्रेयस रहा।

कहा भी है—

यदाभ्युदयिकञ्चैव, नैश्रेयसिकमेव च।
सुख साधयितुं मार्गं, दर्शयेत् तद् हि दर्शनम्॥

नास्तिक धर्म-कर्म पर तो नहीं रुकें, किन्तु फिर भी उन्हें समाज-परिवर्तन की बात नहीं सूझी। उनका पक्ष प्रायः खण्डनात्मक ही रहा। मार्क्स ने समाज को बदलने के लिए ही समाज को देखा। आस्तिको का दर्शन समाज से आगे चलता है। उसका लक्ष्य है—शरीर-मुक्ति—पूर्ण स्वतन्त्रता—मोक्ष।

नास्तिको का दर्शन ऐहिक सुख-सुविधाओं के उपभोग में कोई खामी न रहे,

इसलिए आत्मा का उच्छेद साधकर रुक जाता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का लक्ष्य है—समाज की वर्तमान अवस्था का सुधार। अब हम देखते हैं कि दर्शन शब्द जिस अर्थ में चला, अब उसमें नहीं रहा।

हरिभद्रसूरि ने वैकल्पिक[४५] दशा में चार्वाक मत को छह दर्शनों में स्थान दिया है। मार्क्स-दर्शन भी आज लब्धप्रतिष्ठ है, इसलिए इसको दर्शन न मानने का आग्रह करना सत्य से आँखें मूंदने जैसा है।

दर्शनों का पार्थक्य

दर्शनों की विविधता या विविध-विषयता के कारण 'दर्शन' का प्रयोग एकमात्र आत्म-विचार सम्बन्धी नहीं रहा। इसलिए अच्छा है कि विषय की सूचना के लिए उसके साथ मुख्यतया स्वविषयक विशेषण रहे। आत्मा को मूल मानकर चलने वाले दर्शन का मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय धर्म है। इसलिए आत्ममूलक दर्शन की 'धर्म-दर्शन' संज्ञा रखकर चलें तो विषय-प्रतिपादन में बहुत सुविधा होगी।

धर्म-दर्शन का उत्स आप्तवाणी—आगम है। ठीक भी है—आधारशून्य विचार-पद्धति किसका विचार करे, सामने कोई तत्त्व नहीं तब किसकी परीक्षा करे? प्रत्येक दर्शन अपने मान्य तत्त्वों की व्याख्या से शुरू होता है। सांख्य या जैनदर्शन, नैयायिक या वैशेषिक दर्शन, किसी को भी लें, सबमें स्वाभिमत २५, ६, १६ या ६ तत्त्वों की ही परीक्षा है। उन्होंने ये अमुक-अमुक संख्याबद्ध तत्त्व क्यों माने, इसका उत्तर देना दर्शन का विषय नहीं, क्योंकि वह सत्य-द्रष्टा तपस्वियोंके साक्षात्-दर्शन का परिणाम है। माने हुए तत्त्व सत्य हैं या नहीं, उनकी संख्या संगत है या नहीं, यह बताना दर्शन का काम है। दार्शनिकों ने ठीक यही किया है। इसीलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि दर्शन का मूल आधार आगम है। वैदिक निरुक्तकार इस तथ्य को एक घटना के रूप में व्यक्त करते हैं—"ऋषियों[४६] के उत्क्रमण करने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा—अब हमारा ऋषि कौन होगा? तब देवताओं ने उन्हें तर्क नामक ऋषि प्रदान किया।" संक्षेप में सार इतना ही है कि ऋषियों के समय में आगम का प्राधान्य रहा। उनके अभाव में उन्हीं की वाणी के आधार पर दर्शन-शास्त्र का विकास हुआ।

परिणामि-नित्यत्ववाद

आगम की परिभाषा में जो गुण[४७] का आश्रय, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, वही द्रव्य है अथवा जो सत्[४८] है—उत्पाद[४९], व्यय ध्रौव्य युक्त है, वही द्रव्य है। इनमें पहली परिभाषा स्वरूपात्मक है और दूसरी अवस्थात्मक। प्रस्तुत ग्रन्थ में 'गुण और पर्याय[५०] का आश्रय द्रव्य है' यह उक्त दोनो आगमिक परिभाषाओं का सार है। दोनों के समन्वय का तात्पर्य है—द्रव्य को परिणामि-नित्य स्थापित करना।

द्रव्य में दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी (यावत्-द्रव्यभावी)—गुण और क्रमभावी—पर्याय। बौद्ध सत् द्रव्य को एकान्त-अनित्य (निरन्वय-क्षणिक—केवल उत्पाद-विनाश-स्वभाव) मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्ती सत्पदार्थ-ब्रह्म को एकान्त नित्य। पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्य-सत्तावाद। जैन दर्शन इन दोनो का समन्वय कर परिणामि-नित्यत्ववाद स्थापित करता है, जिसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी, तथा इस परिवर्तन में उसका अस्तित्व भी नहीं मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार न हो तो हमें सजातीयता—'यह वही है', का अनुभव नहीं हो सकता। यदि द्रव्य निर्विकार ही हो तो विश्व की विविधता संगत नहीं हो सकती। इसलिए 'परिणामि-नित्यत्व' जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के द्रव्याक्षरत्ववाद से होती है। उसका स्थापन सन् १७८९ में (Lavoisier) नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने किया था। उसका आशय यह है कि विश्व में द्रव्य का परिणाम सदा समान रहता है। उसमें कोई न्यूनाधिक्य नहीं होता। न किसी द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति। साधारण दृष्टि से जिसे हम द्रव्य का नाश हो जाना समझते हैं, वह उसका रूपान्तर में परिणमन मात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है, उसे हम साधारणतया नाश हो गया कहते हैं—परन्तु वह वस्तुतः नाश नहीं हुआ बल्कि वायु मण्डल के ऑक्सिजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस (Carbonic Acid Gas) के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार शक्कर या नमक को पानी में घोल दिया जाय तो वह उनका भी नाश नहीं, बल्कि ठोस से द्रव रूप में परिणति मात्र समझनी चाहिए। किसी नवीन वस्तु को उत्पन्न होते देखते हैं···· वह भी वस्तुतः किसी पूर्ववर्ती वस्तु का रूपान्तर मात्र है। आज द्रव्याक्षरत्ववाद का यह सिद्धान्त रासायनिक

विज्ञान का बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त समझा जाता है और तुला यन्त्र द्वारा किसी भी समय उसकी सचाई की परीक्षा की जा सकती है।

पुरुष नित्य है और प्रकृति परिणामि-नित्य, इस प्रकार सांख्य भी नित्यानित्यत्ववाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते हैं तथा घट, पट आदि को अनित्य। समूहापेक्षा से ये भी परिणामि-नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं किन्तु जैन दर्शन की तरह द्रव्य मात्र को परिणामि-नित्य नहीं मानते। महर्षि पतञ्जलि, कुमारिल भट्ट, पार्थसार मिश्र आदि ने 'परिणामि-नित्यत्ववाद' को एक स्पष्ट सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया, फिर भी उन्होंने इसका प्रकारान्तर से पूर्ण समर्थन[५१] किया है। जैन-दर्शन के अनुसार जड़ या चेतन, प्रत्येक पदार्थ त्रयात्मक है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त[५२] है। इसी का नाम परिणामि-नित्यत्व है।

द्रव्य

द्रव्य छह हैं :—

१ : धर्मास्तिकाय।
२ : अधर्मास्तिकाय।
३ : आकाशास्तिकाय।
४ : काल।
५ : पुद्‌गलास्तिकाय।
६ : जीवास्तिकाय।

भगवान् ने कहा—"गौतम! गति-सहायक द्रव्य को मैं धर्म कहता हूँ। स्थिति-सहायक द्रव्य को मैं अधर्म कहता हूँ। आधार देने वाले द्रव्य को मैं आकाश कहता हूँ। परिवर्तन के निमित्तभूत द्रव्य को मैं काल कहता हूँ। स्पर्श, रस, गन्ध और रूपयुक्त द्रव्य को मैं पुद्‌गल कहता हूँ। चेतनावान् द्रव्य को मैं जीव कहता हूँ।"

धर्म और अधर्म

जैन-साहित्य में जहां धर्म-अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों के अर्थ में होता है, वहाँ दो स्वतन्त्र द्रव्यों के अर्थ में भी होता है। धर्म-गति-तत्त्व है, अधर्म स्थिति-तत्त्व। दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन के सिवाय किसी ने भी इनकी स्थिति

नहीं मानी है। वैज्ञानिकों में सबसे पहले न्यूटन ने गति-तत्त्व (Medium of motion) को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलबर्ट आइंस्टीन, ने भी गति-तत्त्व स्थापित किया है—"लोक परिमित है। लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति में सहायक होता है।" वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत ईथर (Ether) गति-तत्त्व का ही दूसरा नाम है। जहाँ वैज्ञानिक अध्यापक छात्रों को इसका अर्थ समझाते हैं, वहाँ ऐसा लगता है, मानो कोई जैन गुरु शिष्यों के सामने धर्म-द्रव्य की व्याख्या कर रहा हो। हवा से रिक्त नालिका में शब्द की गति होने में यह अभौतिक ईथर ही सहायक बनता है। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया कि 'जितने भी चल भाव हैं—सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन मात्र हैं, वे सब धर्म की सहायता से प्रवृत्त होते हैं, गति शब्द केवल सांकेतिक[५३] है।' गति और स्थिति दोनों सापेक्ष हैं। एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व अत्यन्त अपेक्षित है।

धर्म-अधर्म की तार्किक मीमांसा करने से पूर्व इनका स्वरूप समझ लेना अनुपयुक्त नहीं होगा—

	द्रव्य से	क्षेत्र से	काल से	भाव से	गुण से
धर्म	एक और[५४] व्यापक	लोक-प्रमाण[५५]	अनादि-अनन्त	अमूर्त्त	गति-सहायक
अधर्म	"	"	"	"	स्थिति-सहायक

गौतम—भगवन्! गति-सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! गति का सहारा नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगें कैसे फैलतीं? आँखें कैसे खुलतीं? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता-डुलता?—यह विश्व अचल ही होता। जो चल है, उन सबका आलम्बन गति-सहायक तत्त्व ही[५६] है।

गौतम—भगवन्! स्थिति-सहायक तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम ! स्थिति का सहारा नहीं होता तो खड़ा कौन रहता ? कौन बैठता ? सोना कैसे होता ? कौन मन को एकाग्र करता ? मौन कौन करता ? कौन निस्पन्द वनता ? निमेष कैसे होता ? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है, उन सवका आलम्वन स्थिति-सहायक तत्त्व ही[५७] है।

धर्म-अधर्म की यौक्तिक अपेक्षा

धर्म और अधर्म को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टिया हैं—(१) गति-स्थिति-निमित्तक द्रव्य और (२) लोक, अलोक की विभाजक शक्ति। प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त, इन दो कारणों की आवश्यकता होती है। विश्व में जीव और पुद्गल, दो द्रव्य गतिशील हैं। गति के उपादान कारण तो वे दोनो स्वय हैं। निमित्त कारण किसे मानें ? यह प्रश्न सामने आता है, तव हमें ऐसे द्रव्यो की आवश्यकता होती है, जो गति एव स्थिति में सहायक वन सकें। हवा स्वयं गतिशील है, तो पृथ्वी, पानी आदि सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं हैं। गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक में होती है। इसलिए हमें ऐसी शक्तियो की अपेक्षा है, जो स्वयं गतिशून्य और सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो, अलोक[५८] में न हों। इस यौक्तिक आधार पर हमे धर्म, अधर्म की आवश्यकता का सहज वोध होता है।

लोक-अलोक की व्यवस्था पर दृष्टि डालें, तव भी इनके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। आचार्य मलयगिरि ने इनका अस्तित्त्व सिद्ध करते हुए लिखा है—"इनके विना लोक-अलोक की व्यवस्था नहीं होती[५९]।"

लोक है इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योकि यह इन्द्रिय-गोचर है। अलोक इन्द्रियातीत है, इसलिए उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न उठता है। किन्तु लोक का अस्तित्व मानने पर अलोक की अस्तिता अपने आप मान ली जाती है। तर्क शास्त्र का नियम है कि "जिसका[६०] वाचक पद व्युत्पत्तिमान् और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत्-प्रतिपक्ष होता है, जैसे अघट घट का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है, वह अलोक है।"

अव हमें उस समस्या पर विचार करना होगा कि ये किस शक्ति से विभक्त होते हैं। इससे पूर्व यह जानना भी उपयोगी होगा कि लोक, अलोक क्या हैं ? जिसमें जीव आदि सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक[६१] है और जहाँ केवल आकाश ही आकाश

होता है, वह अलोक[१३] है। अलोक मे जीव, पुद्गल नहीं होते; इसका कारण है वहाँ धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव। इसलिए ये (धर्म-अधर्म) लोक, अलोक के विभाजक बनते हैं। "आकाश[१४] लोक और अलोक दोनो मे तुल्य है, इसलिए धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो तो उनके विभाग का आधार ही क्या रहे।"

आकाश

द्रव्यतः	एक और व्यापक।
क्षेत्रतः	लोक-अलोक-प्रमाण।
कालतः	अनादि-अनन्त।
भावतः	अमूर्त्त।
गुणतः	अवगाह-गुण।

गौतम—भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवो और अजीवो को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! आकाश नहीं होता तो ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ वरतता? पुद्गल का रगमच कहाँ बनता? यह विश्व निराधार ही होता[१४]।

काल

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तुवृत्त्या वह जीव और अजीव की पर्याय[१५] है। जहाँ इसके जीव, अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है, वहाँ इसे द्रव्य[१६] भी कहा गया है। ये दोनों कथन विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय-दृष्टि मे काल जीव, अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि मे वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। 'उपकारकं द्रव्यम्'—वर्तना आदि काल के उपकार हैं। इन्हीं के कारण वह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिकादि[१७] रूप काल जीव, अजीव से भिन्न नहीं है; उन्हीं की पर्याय है।

पुद्गल

विज्ञान जिसको मैटर (Matter) और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन दर्शन ने पुद्गल-संज्ञा दी है। बौद्ध दर्शन में पुद्गल शब्द

आलय-विज्ञान—चेतना-सन्तति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन शास्त्रों में भी अभेदोपचार से पुद्‌गलयुक्त[६८] आत्मा को पुद्‌गल कहा है। किन्तु मुख्यतया पुद्‌गल का अर्थ है मूर्तिक द्रव्य। छह द्रव्यों में काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं—यानी अवयवी हैं, किन्तु फिर भी इन सबकी स्थिति एक-सी नहीं। जीव, धर्म, अधर्म और आकाश—ये चार अविभागी हैं। इनमें संयोग और विभाग नहीं होता। इनके अवयव परमाणु द्वारा कल्पित किये जाते हैं। कल्पना करो—यदि इन चारों के परमाणु जितने-जितने खण्ड करें तो जीव, धर्म, अधर्म के असंख्य और आकाश के अनन्त खण्ड होते हैं। पुद्‌गल अखण्ड द्रव्य नहीं है। उसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है और सबसे बड़ा रूप है विश्वव्यापी अचित्त-महास्कन्ध[६९]। इसीलिए उसको पूरण-गलन-धर्मा कहा है। छोटा-बड़ा, सूक्ष्म-स्थूल, हल्का-भारी, लम्बा-चौड़ा, बन्ध-भेद, आकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया—इनको पौद्‌गलिक मानना जैन तत्त्व ज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

गौतम—भगवन्! पुद्‌गल का क्या कार्य है?

भगवान्—गौतम! पुद्‌गल नहीं होता तो शरीर किसका बनता? विविध-क्रिया करने वाला शरीर किससे बनता? विभूतियो का निमित्त कौन होता? कौन तेज, पाचन और दीपन करता? सुख-दुःख की अनुभूति और व्यामोह का साधन कौन बनता? शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और इनके द्वार—कान, आँख, नाक, जीभ, और चर्म कौन बनते? मन, वाणी और स्पन्दन का निमित्त कौन बनता? श्वास और उच्छ्‌वास कौन होता? अन्धकार और प्रकाश नहीं होते, आहार और विहार नहीं होते, धूप और छाँह नहीं होती। कौन छोटा होता, कौन बड़ा? कौन लम्बा होता, कौन चौड़ा? त्रिकोण और चतुष्कोण नहीं होते। वर्तुल और परिमण्डल भी नहीं होते। संयोग और वियोग नहीं होते—सुख और दुःख, जीवन और मृत्यु नहीं होते। यह विश्व अदृश्य ही होता[७०]।

शब्द

जैन दार्शनिकों ने शब्द को केवल पौद्‌गलिक कहकर ही विश्राम नहीं लिया किन्तु उसकी उत्पत्ति,[७१] शीघ्रगति,[७२] लोकव्यापित्व,[७३] स्थायित्व[७४] आदि विभिन्न पहलुओं पर पूरा प्रकाश डाला है। तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुघोषा घण्टा का

शब्द[७५] असंख्य योजन की दूरी पर रही हुई घण्टाओ में प्रतिध्वनित होता है—यह विवेचन उस समय का है, जबकि रेडियो, वायरलेस आदि का अनुसन्धान नहीं हुआ था। हमारा शब्द क्षण मात्र में लोक व्यापी वन जाता है, यह सिद्धान्त भी आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था।

जीव

गौतम—भगवन्! जीव का क्या कार्य है ?

भगवान्—गौतम! जीव नहीं होता तो कौन उत्थान करता ? कौन कर्म, वल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम करता ? यह उत्थान जीव की सत्ता का प्रदर्शन है। यह कर्म, वल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम जीव की सत्ता का प्रदर्शन है। कौन ज्ञानपूर्वक क्रिया मे प्रवृत्त होता ? यह विश्व अचेतन ही होता, ज्ञानपूर्वक कुछ भी नहीं होता। ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति और निवृत्ति है—वह जीव की सत्ता का प्रदर्शन है।[७६]

एक-द्रव्य : अनेक-द्रव्य

समान जातीय द्रव्यो की दृष्टि से सव द्रव्यों की स्थिति एक नहीं है। छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीन द्रव्य एक-द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से एक हैं। इनके समानजातीय द्रव्य नहीं हैं। एक-द्रव्य द्रव्य-व्यापक होते हैं—धर्म, अधर्म समूचे लोक में व्याप्त है, आकाश लोक, अलोक दोनों में व्याप्त है। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनेक द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से अनन्त हैं।

पुद्गल द्रव्य सांख्य-सम्मत प्रकृति[७७] की तरह एक या व्यापक नहीं किन्तु अनन्त हैं, अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध हैं। जीवात्मा भी एक और व्यापक नहीं, अनन्त हैं। काल के भी समय[७८] अनन्त हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में द्रव्यों की संख्या के दो ही विकल्प हैं—एक[७९] या अनन्त। कई ग्रन्थकारों ने काल के असंख्य परमाणु माने हैं पर वह युक्त नहीं। यदि उन कालाणुओं को स्वतन्त्र द्रव्य मानें, तव तो द्रव्य-संख्या में विरोध आता है और यदि उन्हे एक समुदय के रूप में मानें तो अस्तिकाय की सख्या में विरोध आता है। इसलिए "कालाणु असंख्य हैं और वे समूचे लोकाकाश में फैले हुए हैं" यह वात किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

लोक

जैन आगमों में लोक की परिभाषा कई प्रकार से मिलती है। धर्मास्तिकाय[८०] लोक है। जीव[८१] और अजीव यह लोक है। लोक पञ्चास्तिकायमय[८२] है। जो आकाश[८३] षड्द्रव्यात्मक है, वह लोक है। इन सबमें कोई विरोध नहीं, केवल अपेक्षा-भेद से इनका प्रतिपादन हुआ है। धर्म-द्रव्य लोक-प्रमित है, इसलिए उसे लोक कहा गया है। संक्षिप्त दृष्टि के अनुसार जहाँ पदार्थ को चेतन और अचेतन उभयरूप[८४] माना गया है, वहाँ लोक का भी चेतनाचेतनात्मक स्वरूप बताया है। काल समूचे लोक में व्याप्त नहीं अथवा वह वास्तविक द्रव्य नहीं, इसलिए लोक पञ्चास्तिकाय भी बताया गया है। सब द्रव्य छह हैं। इनमें आकाश सबका आधार है, इसलिए उसके आश्रय पर ही दो विभाग किये गये हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। अलोकाकाश में आकाश के सिवाय कुछ भी नहीं। लोकाकाश में सभी द्रव्य हैं। व्यावहारिक काल सिर्फ मनुष्य लोक में है। किन्तु वह है लोक में ही, इसलिए 'अंशस्यापि क्वचित् पूर्णत्वेन व्यपदेशः' के अनुसार लोक को षड्द्रव्यात्मक मानना भी युक्तिसिद्ध है। कहा भी है—'द्रव्याणि[८५] षट प्रतीतानि, द्रव्यलोकः स उच्यते।'

असंख्य-द्वीप-समुद्र और मनुष्य-क्षेत्र

जैन दृष्टि के अनुसार भूवलय (भूगोल) का स्वरूप इस प्रकार है—तिरछे लोक में असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं। उनमें मनुष्यों की आबादी सिर्फ ढाई द्वीप (जम्बू, धातकी और अर्ध-पुष्कर) में ही है। इनके बीच में लवण और कालोदधि, ये दो समुद्र भी आ जाते हैं। बाकी के द्वीप समुद्रों मे न तो मनुष्य पैदा होते हैं और न सूर्य चन्द्र की गति होती है, इसलिए ये ढाई द्वीप और दो समुद्र शेष द्वीप समुद्रों से विभक्त हो जाते हैं। इनको मनुष्य-क्षेत्र तथा समय क्षेत्र कहा जाता है। शेष इनसे व्यतिरिक्त हैं। उनमें सूर्य, चन्द्र हैं सही, पर वे चलते नहीं, स्थिर हैं। जहाँ सूर्य है वहाँ सूर्य और जहाँ चन्द्रमा है वहाँ चन्द्रमा। इसलिए वहाँ समय का माप नहीं है। तिरछा लोक असंख्य योजन का है, उसमें मनुष्य लोक सिर्फ ४५ लाख योजन का है। पृथ्वी का इतना बड़ा रूप वर्तमान की साधारण दुनिया को भले ही एक कल्पना-सा लगे, किन्तु विज्ञान के विद्यार्थी के लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं। वैज्ञानिकों ने ग्रह, उपग्रह और ताराओं के रूप में असंख्य पृथ्वियां मानी हैं। वैज्ञानिक जगत् के अनुसार

"ज्येष्ठ तारा इतना बड़ा है कि उसमें हमारी वर्तमान दुनिया जैसी सात[८६] नील पृथ्वियां समा जाती हैं।" वर्तमान में उपलब्ध पृथ्वी के बारे में एक वैज्ञानिक ने लिखा है—"सौर[८७] तारों के सामने यह पृथ्वी एक धूल के कण के समान है।" विज्ञान नीहारिका की लम्बाई चौड़ाई का जो वर्णन करता है, उसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति आधुनिक या विज्ञानवादी होने के कारण ही प्राच्य वर्णनों को कपोल-कल्पित नहीं मान सकता। "नंगी[८८] आखों से देखने से यह नीहारिका शायद एक धुंधले बिन्दु-मात्र-सी दिखलाई पड़ेगी, किन्तु इसका आकार इतना बड़ा है कि हम बीस करोड़ मील व्यास वाले गोले की कल्पना करें, तब ऐसे दस लाख गोलों की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान करें—फिर भी उक्त नीहारिका की लम्बाई-चौड़ाई के सामने उक्त अपरिमेय आकार भी तुच्छ होगा और इस ब्रह्माण्ड में ऐसी हजारों नीहारिकाएं हैं। इससे भी बड़ी तथा इतनी दूरी पर हैं कि १ लाख ८६ हजार मील प्रति सैकेण्ड चलने वाले प्रकाश को वहाँ से पृथ्वी तक पहुँचने में १० से ३० लाख वर्ष तक लग सकते हैं।" वैदिक शास्त्रों में भी इसी प्रकार अनेक द्वीप-समुद्र होने का उल्लेख मिलता है। जम्बू-द्वीप, भरत आदि नाम भी समान ही हैं। आज की दुनिया एक अन्तर-खण्ड के रूप में है। इसका शेष दुनिया से सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं दीखता। फिर भी दुनिया को इतना ही मानने का कोई कारण नहीं। आज तक हुई शोधों के इतिहास को जानने वाला इस परिणाम पर कैसे पहुँच सकता है कि दुनियां बस इतनी है और उसकी अन्तिम शोध हो चुकी है।

नव तत्त्व

रहस्यभूत वस्तु को तत्त्व कहते हैं। तत्त्व संख्या में नौ हैं, उनके भेद निम्नोक्त हैं:—

१ : जीव
२ : अजीव
३ : पुण्य
४ : पाप
५ : आस्रव
६ : संवर
७ : निर्जरा
८ : बंध
९ : मोक्ष

नव तत्त्वों का विधान साधना की दृष्टि से किया गया है। जीव-अजीव दो मुख्य तत्त्व हैं। आत्मा के साथ पुद्गल का जो सम्बन्ध होता है, वह बन्ध है। सुख देने वाला पुद्गल-समूह पुण्य तत्त्व है। दुःख देने वाला और ज्ञान आदि को रोकने वाला पुद्गल-समूह पाप तत्त्व है। आत्मा की प्रवृत्ति व मलिनता ही आस्रव है। त्याग भावना संवर है। कर्म के आवरण का क्षीण होना निर्जरा है। सर्वथा सम्पूर्ण रूप से आवरण का क्षीण हो जाना मोक्ष है।

षट् द्रव्य व नव तत्त्व का समावेश जीव-राशि व अजीव-राशि में हो जाता है। धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य अजीव-राशि में तथा जीवास्तिकाय जीव-राशि में हैं। नव तत्त्वों में—जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष—ये पाँच जीव-राशि में हैं और अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध—ये चार अजीव-राशि में हैं।

कर्मवाद

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों में जगत् की विभक्ति[८९], विचित्रता[९०] और साधन[९१] तुल्य होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है। उस हेतु को वेदान्ती अविद्या, बौद्ध वासना, सांख्य क्लेश और न्याय-वैशेषिक अदृष्ट तथा जैन कर्म[९२] कहते हैं। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देशमात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते-करते बहुत आगे बढ़ जाते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है, जब तक उसका फल नहीं मिल जाता, तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से[९३] मिलता है, कारण कि यदि ईश्वर कर्म-फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाँय। सांख्य[९४] कर्म को प्रकृति का विकार मानते हैं। अच्छी बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उसे प्रकृतिगत संस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्यकारण-भाव के रूप में सुख-दुःख का हेतु बनती है। जैन दर्शन कर्म को स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंध जाते हैं। यह उनकी बध्यमान (बन्ध) अवस्था है। बंधने के बाद उसका परिपाक होता है, वह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःखरूप तथा आवरणरूप फल मिलता है, वह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनों में कर्मों की क्रियमाण, संचित और

प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाएं बताई गई हैं। वे ठीक क्रमशः बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं। बन्ध के प्रकृति, स्थिति, विपाक और प्रदेश—ये चार प्रकार, उदीरणा-कर्म का शीघ्र फल मिलना, उद्‌वर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक की वृद्धि होना, अपवर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक में कमी होना, संक्रमण—कर्म की सजातीय प्रकृतियों का एक दूसरे के रूप में बदलना आदि-आदि अवस्थाएं जैनों के कर्म-सिद्धान्त के विकास की सूचक हैं। बन्ध के कारण क्या हैं? बंधे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित? कर्म जिस रूप में बंधते हैं, उसी रूप में उनका फल मिलता है या अन्यथा? धर्म करने वाला दुःखी और अधर्म करने वाला सुखी कैसे? आदि-आदि विषयों पर जैन ग्रन्थकारों ने खूब विस्तृत विवेचन किया है। इन सबको लिया जाय तो दूसरा ग्रन्थ बन जाय। इसलिए यहाँ इन सब प्रसंगों में न जाकर दो-चार विशेष बातों की ही चर्चा करना उपयुक्त होगा। वे हैं—कर्म की पौद्‌गलिकता, आत्मा से उसका सम्बन्ध कैसे? वह अनादि है, तब उसका अन्त कैसे? फल की प्रक्रिया, आत्मा स्वतन्त्र है या उसके अधीन?

कर्म की पौद्‌गलिकता

अन्य दर्शन कर्म को जहाँ संस्कार या वासना रूप मानते हैं, वहाँ जैन दर्शन उसे पौद्‌गलिक मानता है। "जिस वस्तु का जो गुण होता है, वह उसका विघातक नहीं बनता।" आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु कैसे बने?

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु है—गुणों का विघातक है। इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

बेड़ी से मनुष्य बँधता है, सुरापान से पागल बनता है, क्लोरोफार्म (Clorofoım) से बेभान बनता है—ये सब पौद्‌गलिक वस्तुएं हैं। ठीक इसी प्रकार कर्म के संयोग से भी आत्मा की ये दशाएं होती हैं, इसलिए वह भी पौद्‌गलिक है। ये बेड़ी आदि बाहरी बन्धन एवं अल्प सामर्थ्यवाली वस्तुएं हैं। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्यवाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इसीलिए उनकी अपेक्षा कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर गहरा और आन्तरिक प्रभाव पड़ता है।

शरीर पौद्‌गलिक है। उसका कारण कर्म है, इसलिए वह भी पौद्‌गलिक है।

पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक होता है। मिट्टी भौतिक है तो उससे बनने वाला पदार्थ भौतिक ही होगा।

आहार आदि अनुकूल सामग्री से सुखानुभूति और शस्त्र-प्रहार आदि से दुःखानुभूति होती है। यह आहार और शस्त्र पौद्गलिक हैं, इसी प्रकार सुख दुःख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक हैं।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कैसे ?

आत्मा अमूर्त्त है, तब उसका मूर्त्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? यह भी कोई जटिल समस्या नहीं है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है। वह अनादिकाल से ही कर्म-बद्ध और विकारी है। कर्म-बद्ध आत्माएं कथंचित् मूर्त्त हैं अर्थात् निश्चय-दृष्टि के अनुसार स्वरूपतः अमूर्त्त होते हुए भी वे संसार-दशा[१६] में मूर्त्त होती हैं। जीव दो प्रकार के हैं—रूपी[१७] और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी हैं और संसारी जीव रूपी।

कर्म-मुक्त आत्मा के फिर कभी कर्म का बन्ध नहीं होता। कर्म-बद्ध आत्मा के ही कर्म बँधते हैं। उन दोनों का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादिकालीन सम्बन्ध चला आ रहा है।

अमूर्त्त ज्ञान पर मूर्त्त मादक द्रव्यों का असर होता है, वह अमूर्त्त के साथ मूर्त्त का सम्बन्ध हुए बिना नहीं हो सकता। इससे जाना जाता है कि विकारी अमूर्त्त आत्मा के साथ मूर्त्त का सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं आती।

अनादि का अन्त कैसे ?

जो अनादि होता है, उसका अन्त नहीं होता, ऐसी दशा में अनादिकालीन कर्म-सम्बन्ध का अन्त कैसे हो सकता है ? यह ठीक, किन्तु इसमें बहुत कुछ समझने जैसा है। अनादि का अन्त नहीं होता, यह सामुदायिक नियम है और जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति विशेष पर यह लागू नहीं भी होता। प्रागभाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है। स्वर्ण और मृत्तिका का, दूध और घी का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का अन्त होता है। यह ध्यान रहे कि इसका सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है, व्यक्तिशः

नहीं। आत्मा से जितने कर्म-पुद्गल चिपटते हैं, वे सब अवधिसहित होते हैं। कोई भी एक कर्म अनादि काल से आत्मा के साथ घुल-मिल कर नहीं रहता। आत्मा मोक्षोचित सामग्री पा, अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, सञ्चित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं, आत्मा मुक्त बन जाती है।

फल की प्रक्रिया

कर्म जड़—अचेतन है। तब वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? यह प्रश्न न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि के 'ईश्वर' के अभ्युपगम का हेतु बना। इसीलिए उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल का नियन्ता बतलाया, जिसका उल्लेख कुछ पहले किया जा चुका है। जैन दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं समझता। कर्म-परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट[९८] परिणाम होता है। वह द्रव्य[९९], क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति[१००], स्थिति, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन में समर्थ हो जीवात्मा के संस्कारो को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ में आत्मा अपने किये का अपने आप फल[१०१] भोगता है, कर्म-परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी आत्मा का संयोग पा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खानेवाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिल जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगो के अध्ययन के बाद कर्मों की फल-दान-शक्ति के बारे में कोई सन्देह नहीं रहता।

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन

कर्म की मुख्य अवस्थाएं दो हैं—बन्ध और उदय। दूसरे शब्दो में ग्रहण और फल। "कर्म[१०२] ग्रहण करने में जीव स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने में परतन्त्र। जैसे कोई व्यक्ति वृक्षपर चढ़ता है, वह चढ़ने में स्वतन्त्र है—इच्छानुसार चढता है। प्रमादवश गिर जाय तो वह गिरने में स्वतन्त्र नहीं है।" इच्छा से गिरना नहीं चाहता फिर भी गिर जाता है, इसलिए गिरने में परतन्त्र है। इसी प्रकार विष खाने में स्वतन्त्र है, उसका परिणाम भोगने में परतन्त्र। एक रोगी व्यक्ति भी गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किन्तु उसके फल-स्वरूप होनेवाले अजीर्ण से नहीं बच सकता।

कर्म-फल भोगने मे जीव परतन्त्र है, यह कथन प्रायिक है। कहीं-कहीं उसमें जीव स्वतन्त्र भी होते हैं। "जीव[103] और कर्म का संघर्ष चलता रहता है। जीव के काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होती है, तब वह कर्मों को पछाड़ देता है और कर्मों की बहुलता होती है, तब जीव उनसे दब जाता है।" इसलिए यह मानना होता है कि कहीं जीव कर्म के अधीन है और कहीं कर्म जीव के अधीन।

कर्म के दो प्रकार होते हैं—(१) निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता, (२) दलिक—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है अथवा सोपक्रम और निरुपक्रम। सोपक्रम—जो कर्म उपचार-साध्य होता है। निरुपक्रम—जिसका कोई प्रतिकार नहीं होता, जिसका उदय अन्यथा नहीं हो सकता। निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनो बातें हैं—जहाँ जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है और जहाँ जीव प्रबल धृति, मनोबल, शरीरबल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है, वहाँ कर्म उसके अधीन होता है। उदय-काल से पूर्व कर्म को उदय मे ला, तोड़ डालना, उनकी स्थिति और रस को मन्द कर देना, यह सब इसी स्थिति में हो सकता है। यदि यह न होता तो तपस्या करने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। पहले बँधे हुए कर्मों की स्थिति और फल-शक्ति नष्ट कर, उन्हे शीघ्र तोड़ डालने के लिए ही तपस्या की जाती है। पातञ्जलयोगभाष्य में भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय-कर्म की तीन गतियाँ बतलाई हैं। उनमें "कोई[104] कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।" एक गति यह है। इसी को जैन दर्शन में उदीरणा कहा है।

क्षयोपशम

आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, ये चार कर्म घाती हैं, और शेष चार अघाती। घाती कर्म आत्म-गुणो की साक्षात् घात करते हैं। इनकी अनुभाग-शक्ति का सीधा असर जीव के ज्ञान आदि गुणों पर होता है, गुण-विकास रुकता है। अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यो से होता है। इनकी अनुभाग-शक्ति का जीव के गुणो पर सीधा असर नहीं होता। अघाती कर्मों का या तो उदय होता है या क्षय—सर्वथा अभाव। इनके उदय से जीव का पौद्गलिक द्रव्य से सम्बन्ध जुड़ा रहता है। इन्हींके उदय से आत्मा 'अमूर्त्तोऽपि मूर्त्त इव' रहती है।

इनके क्षय से जीव का पौद्गलिक द्रव्य से सदा के लिए सर्वथा सम्बन्ध टूट जाता है। और इनका क्षय मुक्त-अवस्था के पहले क्षण में होता है। घाती कर्मों के उदय से जीव के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व-चारित्र और वीर्य-शक्ति का विकास रुका रहता है। फिर भी उक्त गुणों का सर्वावरण नहीं होता। जहाँ इनका (घातिक कर्मों का) उदय होता है, वहाँ अभाव भी। यदि ऐसा न हो, आत्मा के गुण पूर्णतया ढक जाएँ तो जीव और अजीव में कोई अन्तर न रहे। इसी आशय से नन्दीसूत्र में कहा है :—

—"पूर्ण ज्ञान का अनन्तवां भाग तो जीव मात्र के अनावृत रहता है, यदि वह आवृत हो जाय तो जीव अजीव बन जाय। मेघ कितना ही गहरा हो, फिर भी चाद और सूरज की प्रभा कुछ न कुछ रहती[१०५] है।" यदि ऐसा न हो तो रात-दिन का विभाग ही मिट जाय। घाती कर्म के दलिक दो प्रकार के होते हैं—देश-घाती और सर्व-घाती। जिस कर्म-प्रकृति से आंशिक गुणों की घात होती है, वह देश-घाती और जो पूर्ण गुणों की घात करे, वह सर्व-घाती। देश-घाती कर्म के स्पर्धक भी दो प्रकार के होते हैं— देश-घाती स्पर्धक और सर्व-घाती स्पर्धक। सर्व-घाती स्पर्धको का उदय रहने तक देश-गुण भी प्रगट नहीं होते। इसलिए आत्म-गुण का यत् किञ्चित् विकास होने में भी सर्व-घाती स्पर्धकों का अभाव होना आवश्यक है, चाहे वह क्षयरूप हो या उपशमरूप। जहाँ सर्व-घाती स्पर्धकों में कुछ का क्षय और कुछ का उपशम रहता है और देश-घाती स्पर्धकों का उदय रहता है, उस कर्म-अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम में विपाकोदय नहीं होता। इसका अभिप्राय यही है कि सर्व-घाती स्पर्धकों का विपाकोदय नहीं रहता। देश-घाती स्पर्धकों का विपाकोदय गुणो के प्रगट होने में वाधा नहीं डालता। इसलिए यहाँ उसकी अपेक्षा नहीं की गई। क्षयोपशम की कुछेक रूपान्तर-के साथ तीन व्याख्याए, हमारे सामने आती हैं—(१) घाती कर्म का विपाकोदय नहीं होना क्षयोपशम है—इससे मुख्यतया कर्म की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। (२) उदय में आये हुए घाती कर्म का क्षय होना, उपशम होना—विपाक रूपसे उदय में न आना, प्रदेशोदय रहना क्षयोपशम है। इसमें प्रधानतया क्षयोपशम-दशा में होने वाले कर्मोदय का स्वरूप स्पष्ट होता है। (३) सर्व-घाती स्पर्धकों का क्षय होना, सत्तारूप उपशम होना तथा देश-घाती स्पर्धकों का उदय रहना क्षयोपशम है। इससे प्राधान्यतः क्षयोपशम के कार्य्य (आवारक शक्ति) के नियमन का वोध होता है।

सारांश सवका यही है—जिस कर्म-दशा में क्षय, उपशम और उदय, ये तीनों

बातें मिलें, वह क्षयोपशम है। अथवा घाती कर्मों का जो आंशिक अभाव है—क्षययुक्त उपशम है, वह क्षयोपशम है। क्षयोपशम में उदय रहता अवश्य है किन्तु उसका क्षयोपशम के फल पर कोई असर नहीं होता। इसलिए इस कर्म-दशा को क्षय-उपशम—इन दो शब्दो के द्वारा ही व्यक्त किया है।

लेश्या

लेश्या का अर्थ है—पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का अध्यवसाय—परिणाम, विचार। आत्मा चेतन है, जड़-स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी संसार-दशा में इसका जड़-द्रव्य—पुद्गल के साथ गहरा संसर्ग रहता है, इसीलिए जड़-द्रव्यजन्य परिणामों का जीव पर असर हुए विना नहीं रहता। जिन पुद्गलों से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी द्रव्य-लेश्या कहलाते हैं। द्रव्य-लेश्याएं पौद्गलिक हैं, इसलिए इनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं। लेश्याओं का नामकरण द्रव्य-लेश्याओं के रंग के आधार पर हुआ है ; जैसे कृष्ण लेश्या, नील लेश्या आदि-आदि। पहली तीन लेश्याएं अप्रशस्त लेश्याएं हैं। इनके वर्ण आदि चारों गुण अशुभ होते हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याओं के वर्ण आदि चारों शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त होती हैं। खान-पान, स्थान और बाहरी वातावरण एवं वायुमण्डल का शरीर और मन पर असर होता है, यह प्रायः सर्वसम्मत-सी बात है। 'जैसा अन्न वैसा मन'—यह उक्ति भी निराधार नहीं है। शरीर और मन, दोनों परस्परापेक्ष हैं। इनमें एक दूसरे की क्रिया का एक दूसरे पर असर हुए विना नहीं रहता। "जल्लेसाइं दव्वाइं आदि अति तल्ले से परिणामे भवइ[१०६]"—जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है। इस आगम-वाक्य से उक्त विषय की पुष्टि होती है। व्यावहारिक जगत् मे भी यही बात पाते हैं—प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली में मानस रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रंगों की किरणों का या विभिन्न रंगों की बोतलों के जलों का प्रयोग किया जाता है। योग-प्रणाली में पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों के रंगों के परिवर्तन के अनुसार मानस-परिवर्तन का क्रम बतलाया है।

इस पूर्वोक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य-लेश्या के साथ भाव-लेश्या का गहरा सम्बन्ध है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि द्रव्य-लेश्या के ग्रहण का क्या कारण है? यदि भाव-लेश्या को उसका कारण मानें तो उसका अर्थ होता है—भाव-लेश्या के अनुरूप द्रव्य-लेश्या, न कि द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव-लेश्या। ऊपर

की पंक्तियों में यह बताया गया है कि द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव-लेश्या होती है। यह एक जटिल प्रश्न है। इसके समाधान के लिए हमें लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। भाव लेश्या यानी द्रव्य-लेश्या के साहाय्य से होनेवाले आत्मा के परिणाम की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—मोह-कर्म के उदय से तथा उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशम से[107]। औदयिक भाव-लेश्याएं बुरी (अप्रशस्त) होती हैं और औपशमिक, क्षायिक या क्षयोपशमिक लेश्याएं भली (प्रशस्त) होती हैं। कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त और तेज, पद्म एवं शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याएं हैं। प्रज्ञापना में कहा है—पहली तीन लेश्याएं बुरे अध्यवसायवाली हैं, इसलिए वे दुर्गति की हेतु हैं और उत्तरवर्ती तीन लेश्याएं भले अध्यवसायवाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु हैं[108]। उत्तराध्ययन में इनको अधर्म-लेश्या और धर्म-लेश्या भी कहा है—कृष्ण, नील और कापोत ये—तीन अधर्म लेश्याएं हैं और तेजः, पद्म एवं शुक्ल—ये तीन धर्म-लेश्याएं हैं[109]। उक्त प्रकरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि आत्मा के भले और बुरे अध्यवसाय (भाव-लेश्या) होने का मूल कारण मोह का अभाव (पूर्ण या अपूर्ण) या भाव है। कृष्ण आदि पुद्गल-द्रव्य भले-बुरे अध्यवसायों के सहकारी कारण बनते हैं। तात्पर्य यह है कि मात्र काले, नीले आदि पुद्गलों से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नहीं बनते। परिभाषा के शब्दों में कहें तो सिर्फ द्रव्य-लेश्या के अनुरूप ही भाव-लेश्या नहीं बनती। मोह का भाव-अभाव तथा द्रव्य-लेश्या—इन दोनों के कारण आत्मा के बुरे या भले परिणाम बनते हैं। द्रव्य लेश्याओं के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की जानकारी सहवर्ती यन्त्र से हो सकती है। लेश्या की विशेष जानकारी के लिए प्रज्ञापना का १७ वा पद और उत्तराध्ययन का ३४ वा अध्ययन द्रष्टव्य है। जैनेतर ग्रन्थों में भी कर्म की विशुद्धि या वर्ण के आधार पर जीवों की कई अवस्थाएँ बतलाई हैं। तुलना के लिए देखो महाभारत पर्व १२–२८६। पातञ्जल योग में वर्णित कर्म की कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण[110]—ये चार जातियाँ भाव-लेश्या की श्रेणी में आती हैं। सांख्यदर्शन[111] तथा श्वेताऽश्वतरोपनिषद्[112] में रजः, सत्त्व और तमोगुण को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है। यह द्रव्य-लेश्या का रूप है। रजोगुण मन को मोहरंजित करता है इसलिए वह लोहित है। सत्त्व-गुण से मन मलरहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। तमोगुण ज्ञान को आवृत करता है, इसलिए वह कृष्ण है।

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्तगुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्त-गुण अनिष्ट गन्ध	गाय की जीभ से अनन्तगुण कर्कश
नील	नीलम के समान नीला	सोंठ से अनन्तगुण तीक्ष्ण		
कापोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्तगुण तिक्त		
तेजः	हिंगुल—सिन्दूर के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्तगुण मधुर	सुरभि - कुसुम की गन्ध से अनन्तगुण इष्ट गन्ध	नवनीत—मक्खन से अनन्तगुण सुकुमार
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्तगुण मिष्ट		
शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त-गुण मिष्ट		

जातिवाद

ढाई हजार वर्ष पूर्व से ही जातिवाद की चर्चा बड़े उग्र रूप से चल रही है। इसने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक—प्रायः सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। इसके मूल में दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं—एक ब्राह्मण-परंपरा की, दूसरी श्रमण-परंपरा की। पहली परंपरा में जाति को तात्त्विक मानकर 'जन्मना जातिः का सिद्धान्त स्थापित किया। दूसरी ने जाति को अतात्त्विक माना और 'कर्मणा जातिः' यह पक्ष सामने रक्खा। इस जन-जागरण के कर्णधार थे श्रमण भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध। इन्होंने जातिवाद के विरुद्ध बड़ी क्रान्ति की और इस आन्दोलन को बहुत संजीव और व्यापक बनाया। ब्राह्मण-परंपरा में जहाँ "ब्रह्मा के मुंह से जन्मने वाले ब्राह्मण, बाहु से जन्मने वाले क्षत्रिय; ऊरु से जन्मने वाले वैश्य, पैरों से जन्मने वाले शूद्र और अन्त में पैदा होने वाले अन्त्यज"[११३]—यह व्यवस्था थी, वहाँ श्रमण-परंपराने—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्म—आचरण या वृत्ति के अनुसार होते हैं"[११४]—यह

आवाज बुलन्द की। श्रमण-परपरा की क्रान्ति से जातिवाद की शृङ्खलाएँ शिथिल अवश्य हुईं पर उनका अस्तित्व नहीं मिटा। फिर भी यह मानना होगा कि इस क्रान्ति की ब्राह्मण-परंपरा पर भी गहरी छाप पड़ी। "चाण्डाल और मच्छीमार के घर में पैदा होने वाले व्यक्ति भी तपस्या से ब्राह्मण बन गए, इसलिए जाति कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है"[११५] यह विचार इसका साक्षी है।

जातिवाद की तात्त्विकता ने मनुष्यो मे जो हीनता के भाव पैदा किये, वे अन्त में छुआछूत तक पहुँच गए। इसके लिए राजनैतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी ने भी काफी आन्दोलन किया। उसके कारण आज भी यह प्रश्न ताजा और सामयिक बन रहा है। इसलिए जाति क्या है? वह तात्त्विक है या नहीं? कौनसी जाति श्रेष्ठ है? आदि-आदि प्रश्नों पर भी विचार करना आवश्यक है।

वह वर्ग या समूह जाति है[११६], जिसमे एक ऐसी समान शृङ्खला हो, जो दूसरो मे न मिले। मनुष्य एक जाति है। मनुष्य मनुष्य मे समानता है और वह अन्य प्राणियो से विलक्षण भी है। मनुष्य-जाति बहुत बड़ी है, बहुत बड़े भूवलय पर फैली हुई है। विभिन्न जलवायु और प्रकृति से उसका सम्पर्क है। इससे उसमें भेद होना भी अस्वाभाविक नहीं। किन्तु वह भेद औपाधिक हो सकता है, मौलिक नहीं। एक भारतीय है, दूसरा अमेरिकन है, तीसरा रसियन—इसमे प्रादेशिक भेद है पर 'वे मनुष्य हैं' इसमे क्या अन्तर है, कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जलवायु के अन्तर से कोई गोरा है, कोई काला। भाषा के भेद से कोई गुजराती बोलता है, कोई बंगाली। धर्म के भेद से कोई जैन है, कोई बौद्ध, कोई वैदिक है, कोई इस्लाम, कोई क्रिश्चियन। रुचि-भेद से कोई धार्मिक है कोई राजनैतिक तो कोई सामाजिक। कर्म-भेद से कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य तो कोई शूद्र। जिनमें जो जो समान गुण हैं, वे उसी वर्ग मे समा जाते हैं। एक ही व्यक्ति अनेक स्थितियो मे रहने के कारण अनेक वर्गों में चला जाता है। एक वर्ग के सभी व्यक्तियों की भाषा, वर्ण, धर्म, कर्म एक से नहीं होते हैं। इन औपाधिक भेदों के कारण मनुष्य-जाति में इतना संघर्ष बढ़ गया है कि मनुष्यो को अपनी मौलिक समानता समझने तक का अवसर नहीं मिलता। प्रादेशिक भेद के कारण बडे बड़े संग्राम हुए और आज भी उनका अन्त नहीं हुआ है। वर्ण भेद के कारण अफ्रीका मे जो कुछ हो रहा है, वह मानवीय तुच्छता का अन्तिम परिचय है। धर्म-भेद के कारण सन् ४८ में होने वाला हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष मनुष्य के

सिर कलंक का टीका है। कर्म-भेद के कारण भारतीय जनता के जो छुआछूत का कीटाणु लगा हुआ है, वह मनुष्य-जाति को पनपने नहीं देता। ये सब समस्यायें हैं। इनको पार किये बिना मनुष्य-जाति का कल्याण नहीं। मनुष्य-जाति एकता से हटकर इतनी अनेकता में चली गई है कि उसे आज फिर मुड़कर देखने की आवश्यकता है—मनुष्य जाति एक है—धर्म जाति-पाति से दूर है—इसको हृदय में उतारने की आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह रहा कि जाति तात्त्विक है या नहीं? इसकी मीमांसा करने से पहले इतना सा और समझ लेना होगा कि इस प्रसंग का दृष्टिकोण भारतीय अधिक है, विदेशी कम। भारतवर्ष में जाति की चर्चा प्रमुखतया कर्माश्रित रही है। भारतीय पंडितों ने उसके प्रमुख विभाग चार बतलाये हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जन्मना जाति मानने वाली ब्राह्मण परंपरा इनको तात्त्विक—शाश्वत मानती है और कर्मणा जाति मानने वाली श्रमण-परंपरा के मतानुसार ये अशाश्वत हैं। हम यदि निश्चय-दृष्टि में जाएं तो तात्त्विक मनुष्य जाति है[११७]—मनुष्य आजीवन मनुष्य रहता है—पशु नहीं बनता। कर्मकृत जाति में तात्त्विकता का कोई लक्षण नहीं—कर्म के अनुसार जाति है, कर्म बदलता है, जाति बदल जाती है[११८]। रत्नप्रभसूरि ने बहुत सारे शूद्रों को भी जैन बनाया। आगे चलकर उनका कर्म व्यवसाय हो गया। उनकी सन्तानें आज कर्मणा वैश्य-जाति में हैं। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं-भारत में शक, हूण आदि कितने ही विदेशी आये और भारतीय जातियों में समा गए।

व्यवहार-दृष्टि में—ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने वाला ब्राह्मण, वैश्य-कुल में जन्म लेने वाला वैश्य—ऐसी व्यवस्था चलती है। इसको भी तात्त्विकता से नहीं जोड़ा जा सकता; कारण कि ब्राह्मण-कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में वैश्योचित और वैश्य-कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में ब्राह्मणोचित कर्म देखे जाते हैं। जाति को स्वाभाविक या ईश्वरकृत मानकर तात्त्विक कहा जाय, वह भी यौक्तिक नहीं। यदि यह वर्ण-व्यवस्था स्वाभाविक या ईश्वरकृत होती तो सिर्फ भारत में ही क्यों? क्या स्वभाव और ईश्वर भारत के ही लिए थे, या उनकी सत्ता भारत पर ही चलती थी? हमें यह निर्विवाद मानना होगा कि यह भारत के समाज-शास्त्रियों की सूझ है—उनकी की हुई व्यवस्था है। समाज की चार प्रमुख जरूरतें हैं—विद्यायुक्त सदाचार, रक्षा, व्यापार—आदान-प्रदान और शिल्प। इनको सुव्यवस्थित और सुयोजित करने के लिए उन्होंने चार

वर्ग बनाये और उनके कार्यानुरूप गुणात्मक नाम रख दिये—विद्यायुक्त सदाचार-प्रधान ब्राह्मण, रक्षा-प्रधान क्षत्रिय, व्यवसाय-प्रधान वैश्य और शिल्प-प्रधान शूद्र। ऐसी व्यवस्था अन्य देशों में नियमित नहीं है, फिर भी कर्म के अनुसार जनता का वर्गीकरण किया जाय तो ये चार वर्ग सब जगह बन सकते हैं। यह व्यवस्था कैसी है, इस पर अधिक चर्चा न की जाय, तब भी इतना सा तो कहना ही होगा कि जहाँ यह जातिगत अधिकार के रूप में कर्म को विकसित करने की योजना है, वहा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विनाश की भी—एक बालक बहुत ही अध्यवसायी और बुद्धिमान् हैं, फिर भी वह पढ नहीं सकता क्योंकि वह शूद्र जाति में जन्मा है, शूद्रो को पढने का अधिकार नहीं है।[११९] यह इस समाज-व्यवस्था एवं तद्‌गत धारणा का महान् दोष है। इसे कोई भी विचारक अस्वीकार नहीं कर सकता। इस वर्ण-व्यवस्था के निर्माण में सम्भवतः समाज की उन्नति एवं विकास का ही ध्यान रहा होगा किन्तु आगे चलकर इसमें जो बुराइयां आईं, वे और ही इसका अंग-भंग कर देती हैं। एक वर्ग का अहंभाव, दूसरे वर्ग की हीनता, स्पृश्यता और अस्पृश्यता की भावना का जो विस्तार हुआ, उसका मूल कारण यही जन्मगत कर्म-व्यवस्था है। यदि कर्मगत जाति-व्यवस्था होती तो ये क्षुद्र धारणाएँ उत्पन्न नही होती। सामयिक क्रान्ति के फल-स्वरूप बहुत सारे शूद्र-कुल में उत्पन्न व्यक्ति विद्या-प्रधान, आचार-प्रधान बने। क्या वे सही अर्थ में ब्राह्मण नही? बहुत सारे अशूद्र-कुल मे उत्पन्न व्यक्ति आचार-सम्पदा से शून्य हो गए। क्या वे सही अर्थ में अन्त्यज नही? वर्णों के ये गुणात्मक नाम ही जातिवाद की अतात्त्विकता बतलाने के लिए काफी पुष्ट प्रमाण हैं।

कौनसी जाति ऊँची और कौनसी नीची—इसका भी एकान्त-दृष्टि से उत्तर नही दिया जा सकता। वास्तविक दृष्टि से देखें तो जिस जाति के बहु-संख्यकों के आचार-विचार सुसंस्कृत और संयम-प्रधान होते हैं, वही जाति श्रेष्ठ है[१२०]। व्यवहार-दृष्टि के अनुसार जिस समय जैसी लौकिक धारणा होती है, वही उसका मान-दण्ड है। किन्तु इस दिशा में दोनो की संगति नही होती। वास्तविक दृष्टि में जहाँ संयम की प्रधानता रहती है, वहाँ व्यवहार-दृष्टि में अहंभाव या स्वार्थ की। वास्तविक दृष्टिवालों का इसके विरुद्ध संघर्ष चालू रहे—यही उसके आधार पर पनपने वाली बुराइयों का प्रतिकार है।

जैन और बौद्धों की क्रान्ति का ब्राह्मणो पर प्रभाव पड़ा—यह पहले बताया गया है। जैन आचार्य भी जातिवाद से सर्वथा अछूते नही रहे—यह एक तथ्य है, इसे हम

दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। आज भी जैनों पर जातिवाद का कुछ असर है। समय की मांग है कि जैन इस विषय पर पुनर्विचार करें।

जाति और गोत्र-कर्म

गोत्र-कर्म के साथ जाति का सम्बन्ध जोड़कर कई जैन भी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि 'गोत्र-कर्म के ऊँच और नीच—ये दो भेद शास्त्रों में बताये हैं'[१२१] तब जैन को जातिवाद का समर्थक क्यों कर नहीं माना जाय? उनका तर्क गोत्र-कर्म के स्वरूप को न समझने का परिणाम है। गोत्र-कर्म न तो लोक-प्रचलित जातियों का पर्यायवाची शब्द है और न वह जन्मगत जाति से सम्बन्ध रखता है। हां, कर्म[१२२] (आचारपरंपरा)-गत जाति से वह किंचित् सम्बन्धित है, उसी कारण यह विषय सन्दिग्ध बना हो अथवा राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तों में कुलगत जाति को गोत कहा जाता है, उस नाम-साम्य से दोनों को—गोत और गोत्र-कर्म को एक समझ लिया हो। कुछ भी हो, यह धारणा ठीक नहीं है।

'गोत्र[१२३] शब्द' की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है। उनमें अधिकांश का तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के द्वारा जीव माननीय, पूजनीय एवं सत्कार-योग्य तथा अमाननीय, अपूजनीय एवं असत्कारयोग्य बने, वह गोत्र-कर्म है। कहीं-कहीं उच्च-नीच कुल में उत्पन्न होना भी गोत्र-कर्म का फल बताया गया है, किन्तु यहाँ उच्च-नीच कुल का अर्थ ब्राह्मण या शूद्र का कुल नहीं। जो प्रतिष्ठित माना जाता है, वह उच्च कुल है और जो प्रतिष्ठाहीन है, वह नीच कुल[१२४]। समृद्धि की अपेक्षा भी जैन-सूत्रों में कुल के उच्च-नीच ये दो भेद बताये गये हैं[१२५]। पुरानी व्याख्याओं में जो उच्च कुल के नाम गिनाये हैं, वे आज लुप्त प्राय हैं। इन तथ्यों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि गोत्र-कर्म मनुष्य-कल्पित जाति का आभारी है—उस पर आश्रित है। यदि ऐसा माना जाय तो देव, नारक और तिर्यञ्चों के गोत्र-कर्म की क्या व्याख्या होगी, उनमें यह जाति-भेद की कल्पना है ही नहीं। हम इतने दूर क्यों जाएं—जिन देशों में वर्ण-व्यवस्था या जन्मगत ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है, वहाँ गोत्र-कर्म की परिभाषा क्या होगी? गोत्र-कर्म संसार के प्राणीमात्र के साथ लगा हुआ है। उसकी दृष्टि में भारतीय और अभारतीय का सम्बन्ध नहीं है। इस प्रसंग में गोत्र-कर्म का फल क्या है, इसकी जानकारी अधिक उपयुक्त होगी।

जीवात्मा के पौद्गलिक सुख-दुःख के निमित्तभूत चार कर्म हैं—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य। इनमें से प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं—सातवेदनीय-असातवेदनीय, शुभनाम-अशुभनाम, उच्चगोत्र-नीचगोत्र, शुभआयु-अशुभआयु। मनचाहे शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मिलना एवं सुखद मन, वाणी और शरीर का प्राप्त होना सातवेदनीय का फल है। असातवेदनीय का फल ठीक इसके विपरीत है। सुखपूर्ण लम्बी आयु शुभ-आयु कर्म का फल है और अशुभ-आयुकर्म का फल है—ओछी आयु तथा दुःखमय लम्बी आयु। शुभ और अशुभ नाम होना क्रमशः शुभ और अशुभ नाम-कर्म का फल है। जाति-विशिष्टता,[१२६] कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तप-विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता और ऐश्वर्य-विशिष्टता—ये आठ उच्च गोत्र-कर्म के फल हैं। नीच-गोत्र-कर्म के फल ठीक इसके विपरीत हैं।

गोत्र-कर्म के फलों पर दृष्टि डालने से सहज पता लग जाता है कि गोत्र-कर्म व्यक्ति-व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है, किसी समूह से नहीं। एक व्यक्ति में भी आठों प्रकृतियां 'उच्च-गोत्र' की ही हों, या 'नीच-गोत्र' की ही हों, यह भी कोई नियम नहीं। एक व्यक्ति रूप और बल से रहित है, फिर भी अपने कर्म से सत्कार-योग्य और प्रतिष्ठा प्राप्त है तो मानना होगा कि वह जाति से उच्च-गोत्र-कर्म भोगरहा है और रूप तथा बल से नीच-गोत्र-कर्म। एक व्यक्ति के एक ही जीवन में जैसे न्यूनाधिक रूप में सात वेदनीय और असात वेदनीय का उदय होता रहता है, वैसे ही उच्च नीच-गोत्र का भी। इस सारी स्थिति के अध्ययन के पश्चात् 'गोत्र-कर्म' और 'लोक-प्रचलित जातियां' सर्वथा पृथक् हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं रहता।

अब हमें गोत्र-कर्म के फलों में गिनाये गये जाति और कुल पर दूसरी दृष्टि से विचार करना है। यद्यपि बहुलतया इन दोनो का अर्थ व्यवहार-सिद्ध जाति और कुल से जोड़ा गया है, फिर भी वस्तु-स्थिति को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि यह उनका वास्तविक अर्थ नहीं, केवल स्थूल दृष्टि से किया गया विचार या बोध सुलभता के लिये प्रस्तुत किया गया उदाहरण मात्र है।

फिर एक बार उसी बात को दुहराना होगा कि जाति-भेद सिर्फ मनुष्यों में है और गोत्र-कर्म का सम्बन्ध प्राणी मात्र से है। इसलिए उसके फल-स्वरूप में मिलने वाले जाति और कुल ऐसे होने चाहिएं, जो प्राणी मात्र से सम्बन्ध रखें। इस दृष्टि से देखा जाय तो जाति का अर्थ होता है—उत्पत्ति-स्थान और कुल का अर्थ होता है—एक

योनि में उत्पन्न होनेवाले अनेक वर्ग[१२७]। ये (जातियां और कुल) उतने ही व्यापक हैं, जितना कि गोत्र-कर्म। एक मनुष्य का उत्पत्ति-स्थान बड़ा भारी स्वस्थ और पुष्ट होता है, दूसरे का बहुत रुग्ण और दुर्बल। इसका फलित यह होता है—जाति की अपेक्षा 'उच्च-गोत्र'—विशिष्ट जन्म-स्थान, जाति की अपेक्षा 'नीच-गोत्र'—निकृष्ट जन्मस्थान। जन्मस्थान का अर्थ होता है—मातृ-पक्ष या मातृस्थानीय पक्ष। कुल की भी यही बात है। सिर्फ इतना अन्तर है कि कुल में पितृ-पक्ष की विशेषता होती है। जाति में उत्पत्ति स्थान की विशेषता होती है और कुल में उत्पादक अंश की[१२८]। 'जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति जातिः,[१२९]' 'मातृसमुत्था जातिः,[१३०]' 'जातिर्गुणवन्मातृकत्वम्[१३१]', 'कुल गुणवत्पितृकत्वम्[१३२]'—इनमें जाति और कुल की जो व्याख्याएं की हैं—वे सब जाति और कुल का सम्बन्ध उत्पत्ति से जोड़ती हैं।

धर्म और पुण्य

जैन दर्शन में धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु तत्त्व-मीमांसा में ये कभी एक नही होते। धर्म आत्मा की राग-द्वेषहीन परिणति है—शुभ परिणाम है[१३३] और पुण्य शुभ कर्ममय पुद्गल है[१३४]। दूसरे शब्दों में धर्म आत्मा की पर्याय है[१३५] और पुण्य अजीव (पुद्गल) की पर्याय है[१३६]। दूसरी बात—धर्म (निर्जरा रूप, यहाँ संवर की अपेक्षा नही है) सत् क्रिया है और पुण्य उसका फल है[१३७], कारण कि सत्प्रवृत्ति के बिना पुण्य नही होता। तीसरी बात—धर्म आत्म-शुद्धि—आत्म-मुक्ति का साधन है[१३८] और पुण्य आत्मा के लिए बन्धन है[१३९]। अधर्म और पाप की भी यही स्थिति है। ये दोनों धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। जैसे—सत्प्रवृत्तिरूप धर्म के बिना पुण्य की उत्पत्ति नही होती, वैसे ही अधर्म के बिना पाप की भी उत्पत्ति नहीं होती[१४०]। पुण्य पाप फल हैं, जीव की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से उसके साथ चिपटने वाले पुद्गल हैं तथा ये दोनों धर्म और अधर्म के लक्षण हैं—गमक हैं[१४१]। लक्षण लक्ष्य के बिना अकेला पैदा नही होता। जीव की क्रिया दो भागों में विभक्त होती है—धर्म और अधर्म, सत् अथवा असत्[१४२]। अधर्म से आत्मा के संस्कार विकृत होते हैं, पाप का बन्ध होता है। धर्म से आत्म-शुद्धि होती है और उसके साथ-साथ पुण्य का बन्ध होता है। इसलिए इनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र नही हो सकती। पुण्य पाप कर्म का ग्रहण

होना या न होना आत्मा के अध्यवसाय—परिणाम पर निर्भर है[143]। शुभयोग तपस्या-धर्म है। और वही शुभयोग पुण्य का आश्रव है[144]। अनुकम्पा, क्षमा, सराग-संयम, अल्प-आरम्भ, अल्प-परिग्रह, योग-ऋजुता आदि-आदि पुण्यबन्ध के हेतु हैं[145]। ये सत्प्रवृत्ति रूप होने के कारण धर्म हैं।

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने शुभभावयुक्त जीव को पुण्य और अशुभ-भावयुक्त जीव को पाप कहा है[146]। अहिंसा आदि व्रतो को पालन करना शुभोपयोग है। इसमें प्रवृत्त जीव के जो शुभ-कर्म का बन्ध होता है, वह पुण्य है। अभेदोपचार से पुण्य के कारणभूत शुभोपयोग-प्रवृत्त जीव को ही पुण्यरूप कहा गया है।

इसलिए अमुक प्रवृत्ति मे धर्म या अधर्म नहीं होता, केवल पुण्य या पाप होता है—यह मानना संगत नहीं। कही-कही पुण्यहेतुक सत्प्रवृत्तियो को भी पुण्य कहा गया है[147]। यह कारण मे कार्य का उपचार, विवक्षा की विचित्रता अथवा सापेक्ष (गौण-मुख्य-रूप) दृष्टिकोण है। तात्पर्य मे जहाँ पुण्य है, वहाँ सत्प्रवृत्तिरूप धर्म अवश्य होता है। इसी बात को पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस रूप में समझाया है कि "अर्थ और काम—ये पुण्य के फल है। इनके लिये दौड़धूप मत करो। अधिक से अधिक धर्म का आचरण करो। क्योकि उसके बिना ये भी मिलने वाले नही हैं[148]।" अधर्म का फल दुर्गति है। धर्म का मुख्य फल आत्म-शुद्धि—मोक्ष है। किन्तु मोक्ष न मिलने तक गौण फल के रुप में पुण्य का बन्ध भी होता रहता है और उससे अनिवार्यतया अर्थ, काम आदि-आदि पौद्गलिक सुख-साधनो की उपलब्धि भी होती रहती है[149]। इसीलिए यह प्रसिद्ध उक्ति है—'सुख हि जगतामेकं काम्य धर्मेण लभ्यते।'

महाभारत के अन्त में भी यही लिखा है :—

"अरे भुजा उठा कर मै चिल्ला रहा हूँ परन्तु कोई भी नही सुनता। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। तब तुम उसका आचरण क्यो नही करते हो[150] ?"

योगसूत्र के अनुसार भी पुण्य की उत्पत्ति धर्म के साथ ही होती है, यही फलित होता है। जैसे—"धर्म और अधर्म—ये क्लेशमूल हैं। इन मूलसहित क्लेशाशय का परिपाक होनेपर उनके तीन फल होते हैं—जाति, आयु और भोग। ये दो प्रकार के हैं—सुखद और दुःखद। जिनका हेतु पुण्य होता है—वे सुखद और जिनका हेतु

पाप होता है—वे दुःखद होते हैं[१५१]।" इससे फलित यही होता है कि महर्षि पतञ्जलि ने भी पुण्य-पाप की स्वतन्त्र उत्पत्ति नही मानी है। जैन-विचारों के साथ उन्हें तोलें तो कोई अन्तर नही आता।

तुलना के लिए देखें—
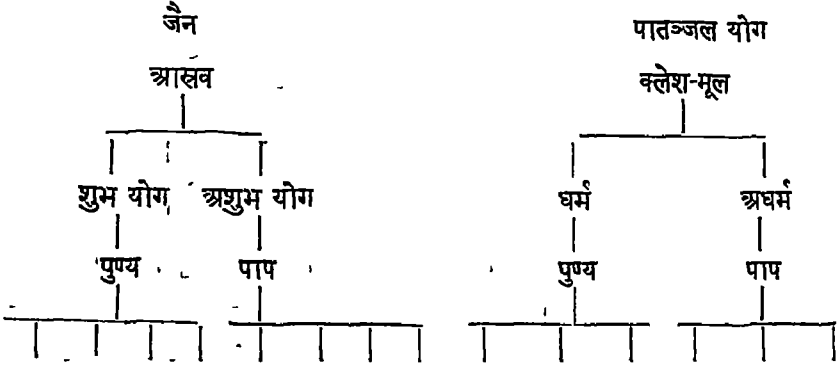
वेदनीय नाम गोत्र आयु वेदनीय नाम गोत्र आयु जाति[१५२] आयु भोग[१५३] जाति आयु भोग

कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा प्रतिक्रमण—आत्मालोचन, प्रायश्चित्त को पुण्य-बन्ध का हेतु होने के कारण विष कहा है[१५४]। आचार्य भिक्षु ने कहा है—"पुण्य की इच्छा करने से पाप का वन्ध होता है[१५५]।" आगम कहते हैं—"इहलोक, परलोक, पूजा, श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्म शुद्धि के लिए करो[१५६]।" यही बात वेदान्त के आचार्यों ने कही है कि "मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए[१५७]।" क्योकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य संसार-भ्रमण के हेतु हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—"पुण्य और पाप इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है[१५८]।" "जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है[१५९]।" गीता भी यही कहती है—"बुद्धिमान् सुकृत और दुष्कृत, दोनों को छोड़ देता है[१६०]।" "आस्रव, संसार का हेतु है और सम्वर, मोक्ष का, जैनी दृष्टि का वस यही सार है[१६१]।" अभयदेवसूरि ने स्थानाङ्ग की टीका में 'आस्रव वन्ध, पुण्य और पाप' को संसार-भ्रमण के हेतु कहा है[१६२]। आचार्य भिक्षु ने इसे यों समझाया है कि "पुण्य से भोग मिलते हैं, जो पुण्य की इच्छा करता है वह भोगों की इच्छा करता है। भोग की इच्छा से संसार वढ़ता है[१६३]।"

इसका निगमन यों करना चाहिए कि अयोगी-अवस्था—पूर्ण समाधि-दशा से पूर्व सत्प्रवृत्ति के साथ पुण्य-वन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से

कोई भी सत्प्रवृत्ति नही करनी चाहिए। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य होना चाहिए—मोक्ष—आत्म-विकास। भारतीय दर्शनो का वही चरम लक्ष्य है। लौकिक अभ्युदय धर्म का आनुषङ्गिक फल है—धर्म के साथ अपने आप फलने वाला है। यह शाश्वतिक या चरम लक्ष्य नही है। इसी सिद्धान्त को लेकर कई व्यक्ति भारतीय दर्शनो पर यह आक्षेप करते हैं कि उन्होने लौकिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा की, पर सही अर्थ में बात यह नही है। ऊपर की पंक्तियो का विवेचन धार्मिक दृष्टिकोण का है, लौकिक वृत्तियों मे रहने वाले अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं। हा, फिर भी भारतीय एकान्त भौतिकता से बहुत बचे हैं। उन्होने प्रेय और श्रेय को एक नही माना [१६४]। अभ्युदय को ही सब कुछ मानने वाले भौतिकवादियो ने युग को कितना जटिल बना दिया—इसे कौन अनुभव नही करता।

धर्म और लोक-धर्म

प्राचीन जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य मे धर्म शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। इससे दो बातें हमारे सामने आती हैं, पहली धर्म शब्द की लोकप्रियता, दूसरी उसकी व्यापकता। जो कोई अच्छी वस्तु जान पड़ी, प्रिय लगी, उसीका नाम धर्म रक्खा गया। ऐसी मनोवृत्ति आज भी है। अथवा यो समझना चाहिए कि उसे अपनी व्यापक शक्ति के द्वारा अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने का अवसर मिला। कुछ भी हो, इससे सही अर्थ समझने मे बड़ी कठिनाई होती है। धर्म शब्द सस्कृत की 'धृं‌न् धारणे' धातु से बना है। कहा भी है—'धारणात् धर्म उच्यते'। वैदिक साहित्य मे प्रकृति, ईश्वर तथा सृष्टि के अखण्ड नियमो के लिए धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है[१६५]। ऋग्वेद में पृथ्वी को 'धर्मणा धृता' कहा गया है।

साम्प्रदायिक मतवाद, गृहस्थ के रीति-रिवाज, समाज और राज्य के नियमो के लिए भी इसका प्रयोग होता है। इसके लिए गीतारहस्य के पृष्ठ ६४ से ६६ तक का विवेचन मननीय है[१६६]।

सामाजिक, राजनीतिक साहित्य में अदालत के लिए धर्मासन, न्यायाधीश के लिए धर्मस्थ और धर्माध्यक्ष, न्यायप्रिय के लिए धार्मिक, वर्णाश्रम व्यवस्था को पालने के लिए धर्मी का प्रयोग होता था।

जैन सूत्रो मे 'मैथुन-धर्म'[१६७], 'ग्राम-धर्म'[१६८] (शब्दादि विषय), 'साधु-धर्म'[१६९], पाप-धर्म आदि प्रयोग भी मिलते हैं।

मनुस्मृति में कहा गया है कि—"जाति-धर्म, जानपद-धर्म, श्रेणी-धर्म—वैश्य आदि के धर्म तथा कुल-धर्मों को देखकर धर्मात्मा राजा अपने धर्म की व्यवस्था करे[१७०]।" ये धर्म उन धर्मों से भिन्न हैं, जिनका स्वरूप[१७१] अध्याय ६-६२-६३ तथा १०-६३ में बताया गया है[१७२]। यहाँ धर्म का अर्थ रीति-रिवाज है और वहाँ धर्म का अर्थ है परम-पद की प्राप्ति के साधन। दर्शन-शास्त्र में "जो जिसका स्वभाव है, वह उसका धर्म है[१७३]।" "सहभावी पर्याय का नाम धर्म है[१७४]।" "धर्म और धर्मी में अत्यन्त भेद नही होता[१७५]।" इस प्रकार स्वभाव और पर्याय के अर्थ में वह प्रयुज्यमान है। मोक्ष—आत्मशुद्धि के साधनभूत अहिंसा आदि चारित्र्य को तो धर्म कहा ही जाता है[१७६]। इस प्रकार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण धर्म-शब्द इतना जटिल बन गया है कि कहां किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—यह निर्णय करना सुलभ नही रहा। इसीलिए धार्मिकों में बड़ी भारी खीचातान चलती है।

यह समस्या कैसे सुलझ सकती है—इस पर भी हमें कुछ विचार करना चाहिए। धर्म का व्यवहार जिन अनेक अर्थों मे हुआ है, उन सबका वर्गीकरण किया जाय, तो दो अर्थ बनते हैं—लोक—ससार और मोक्ष। जो आत्म-विकास का साधन है, वह मोक्षधर्म—आत्मधर्म है और शेष जितने धर्म हैं, वे सब लोक-धर्म—व्यावहारिक धर्म हैं। गम्य-धर्म, पशु-धर्म, देश-धर्म, राज्य-धर्म, पुरवर-धर्म, ग्राम-धर्म, गण-धर्म, गोष्ठी-धर्म, राज-धर्म आदि-आदि लौकिक धर्म हैं[१७७]। कुप्रावचनिक धर्म को भी आचार्यों ने लौकिक धर्म के समान ही कहा है। आरम्भ और परिग्रहयुक्त धर्म कुप्रावचनिक है[१७८]। इन दोनों प्रकार के लौकिक और कुप्रावचनिक धर्मों की अरिहन्त अथवा बुद्धिमान् पुरुष प्रशसा नही करते। कारण कि ये दोनो सावद्य हैं—अशुभ कर्म-बन्धन युक्त हैं। (१) लोकोत्तर धर्म वह है, जो मोक्ष का—आत्मशुद्धि का साधन हो। मोक्ष के साधन कई प्रकार के वर्णित किये गये हैं—(२) सम्वर, निर्जरा अथवा श्रुत और चारित्र, (४) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, (५) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, (१०) शान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य।

दोनों प्रकार के धर्म प्राणीवर्ग के आश्रित रहते हैं। फिर भी उनका भेद समझने के लिए आचार्य श्री तुलसी ने कसौटी के रूप में तीन बातें रखी हैं[१७९]—

१—आत्मशुद्धि-हेतुकता, २—अपरिवर्तनीय-स्वरूपता,

३—सर्वसाधारणता।

ये (तीन बातें) जिसमें हो, वह मोक्ष-धर्म हैं और जिसमें यह न मिले—वह लोक धर्म है। अहिंसा आदि आत्म-कल्याण के लिए हैं[१८०] और समाजनीति, राजनीति आदि लोक-व्यवस्था के लिए।

अहिंसा आदि का स्वरूप अपरिवर्तनीय है[१८१] और समाज-नीति, राज-नीति का स्वरूप परिवर्तनीय। लोकमान्य तिलक ने इस पर बड़ा मार्मिक विवेचन किया है—"ज्यो-ज्यो समय बदलता जाता है त्यो-त्यो व्यावहारिक धर्म मे भी परिवर्तन होता जाता है।........ .. .. युगमान के अनुसार कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के धर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं[१८२]।" महाभारत १२२-७६ मे यह कथा है कि प्राचीनकाल मे स्त्रियो के लिए विवाह की मर्यादा नही थी। वे इस विषय में स्वतन्त्र और अनावृत थी। परन्तु जब इस आचरण का बुरा परिणाम दीख पड़ा, तब श्वेतकेतु ने विवाह की मर्यादा स्थापित कर दी और मदिरा-पान का निषेध भी पहले-पहल शुक्राचार्य ने ही किया। तात्पर्य यह है कि जिस समय ये नियम जारी नही थे, उस समय के धर्म, अधर्म का तथा उसके बाद के धर्म, अधर्म का निर्णय भिन्न-भिन्न रीति से किया जाना चाहिये। इसी तरह यदि वर्तमान समय का प्रचलित धर्म आगे बदल जाय तो उसके साथ भविष्यकाल के धर्म, अधर्म का विवेचन भी भिन्न रीति से किया जायगा। काल-मान के अनुसार देशाचार, कुलाचार और जाति-धर्म का भी विचार करना पड़ता है। क्योंकि आचार ही सब धर्मों की जड़ है। तथापि आचारों में भी बहुत भिन्नता हुआ करती है। पितामह भीष्म कहते हैं—"ऐसा आचार नही मिलता जो हमेशा सब लोगों का हितकारक हो। यदि किसी एक आचार को स्वीकार किया जाय तो दूसरा उससे बढकर मिलता है। यदि इस दूसरे को स्वीकार किया जाय तो वह किसी तीसरे आचार का विरोध करता है[१८३]। जब आचारो मे ऐसी भिन्नता हो जाय तब भीष्म पितामह के कथन के अनुसार तारतम्य अथवा सार-असार-दृष्टि से विचार करना चाहिए।

महात्मा टालस्टाय ने भी कहा है—"समाज के जीवन के आदर्श, जिनके अनुसार मनुष्यों के सारे काम-काज होते हैं, बदलते रहते हैं और उन्ही के साथ-साथ मानव-जीवन का व्यवस्था-कर्म भी बदलता रहता है[१८४]।"

अहिंसा आदि सर्व-साधारण हैं—सब जगह सबके लिए समान है—एक है। समाजनीति, राजनीति सब जगह सबके लिए समान नही होती है। तात्पर्य यह है

कि मोक्ष-धर्म (अहिंसा आदि) सदा, सब जगह, सबके लिए एक है और लोक-धर्म का स्वरूप इसके विपरीत है।

अहिंसा और दया-दान

'अहिंसा ही आत्म-धर्म है' यह कहना न तो अत्युक्ति है और न अर्थवाद। आचार्यों ने बताया है कि "सत्य आदि जितने व्रत हैं, वे सब अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं[१८५]।" काव्य की भाषा में "अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाली बाड़े हैं[१८६]।" "अहिंसा जल है, सत्य आदि उसकी रक्षा के लिए सेतु है[१८७]।" सार यही है कि दूसरे सभी व्रत अहिंसा के ही पहलू हैं।

मोक्ष-धर्म की कोटि में वे ही व्रत आते हैं, जो अहिंसा की कसौटी पर खरे उतरते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में दया और दान (उपकार इन्ही के अन्तर्गत है)—ये दोनो इसी कसौटी पर परखे गये हैं। धर्म-शब्द की भांति दया-दान शब्द भी बड़े व्यापक हो चले हैं पर आध्यात्मिक दया-दान वे ही हैं, जो अहिंसा के पोषक हों—अहिंसामय हों। तत्त्व-दृष्टि से देखा जाय तो अहिंसा, दया और दान—ये तीनो एकार्थक शब्द हैं। अथवा यों कहिये कि तात्पर्यार्थ में तीनो एक हैं। इस विचार की पुष्टि के लिए जैन और जैनेतर साहित्य का अभिप्राय जानना आवश्यक है। भगवान् महावीर ने कहा है—"प्राणी मात्र के प्रति संयम रखना अहिंसा है[१८८]।" महात्मा बुद्ध ने कहा है—"त्रस और स्थावर सबकी घात न करना अहिंसा है, वही आर्यता है[१८९]।" व्यास ने कहा है—"सब प्रकार से सदा सब जीवों का अकुशल न करना अहिंसा है[१९०]।" गीता में कहा है—"प्राणी मात्र को कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है[१९१]।" महात्मा गांधी ने लिखा है—"अहिंसा के माने सूक्ष्म वस्तुओ से लेकर मनुष्य तक सभी जीवो के प्रति समभाव[१९२]।" सभी व्याख्याकारों का सार यह है—असयम, विषम भाव, अभिद्रोह और क्लेश हिंसा है; संयम, समभाव, अनभिद्रोह और अक्लेश अहिंसा है। हिंसा आत्म-मालिन्य का साधन है, इसलिए वह संसार है और अहिंसा आत्म-शुद्धि का साधन है, इसलिए वह मोक्ष है।

शाब्दिक मीमांसा करें तो अहिंसा निषेधात्मक है, किन्तु तात्पर्यार्थ में वह उभय-रूप है—विधिनिषेधात्मक है। बुराइयों से बचाव करना—असत्प्रवृत्ति न करना—यह निषेध हैं। स्वाध्याय, ध्यान, उपदेश, बुराइयो से बचने की प्रेरणा देना, मानसिक,

वाचिक, कायिक सत्प्रवृत्तिया, प्राणी मात्र के साथ बन्धुत्व-भावना, आत्म-शुद्धि का सहयोग या सेवा आदि का आचरण करना यह विधि है। शाब्दिक अपेक्षा से विधि रूप अहिंसा को दया तथा कई प्रवृत्तियों को दान भी और निषेधरूप अहिंसा को अहिंसा कहा जाता है। बहुधा पूछा जाता है—किसी मरते को बचाना, दीन-दुःखी की सहायता करना धर्म है या नहीं? इसका थोड़े में उत्तर यह है कि जिन प्रवृत्तियों में बचाना, सहायता करना आदि-आदि कुछ भी हों, सूक्ष्म हिंसा तक का अनुमोदन न हो, राग-द्वेष की परिणति न हो, एक शब्द में—यह प्रवृत्तियां अहिंसात्मक हों तो वे धर्म हैं, नहीं तो नहीं। अहिंसा को बचाने से, रक्षा से, सहयोग से विरोध नहीं, उसका विरोध हिंसा से, राग-द्वेषात्मक परिणति से है। उसका जीवन या मृत्यु से सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध अपनी सत्प्रवृत्तियों से है।

अहिंसा और दया की एकता

प्रश्न व्याकरण-सूत्र में अहिंसा को दया कहा है[११३]। इसका टीकाकार ने अर्थ किया है—'देहि-रक्षा' यानी जीवों की रक्षा। इसी प्रकरण में आगे कहा गया है—साधु त्रस-स्थावर सब जीवों की दया के लिए, अहिंसा के लिए (हिंसा टालने के लिए) ऐसा आहार ले, जिसमें उसके निमित्त किसी प्रकार की हिंसा न हुई हो।

धर्म-संग्रह में लिखा है—"अनुकम्पा, कृपा और दया ये सब एकार्थक हैं[११४]।" धर्म-रत्नप्रकरण में बताया है कि "धर्म का मूल दया है और सब अनुष्ठान उसके अनुचारी है[११५]।" दया क्या है, इसकी व्याख्या में आचारांग-सूत्र का उद्धरण देते हुए कहा है—"प्राणी मात्र की हिंसा न करना—यही दया एवं प्राणी-रक्षा है क्योंकि सब धर्मों में अहिंसा ही मुख्य हैं।" दशवैकालिक-सूत्र में कहा है—"जिसका चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोना, खाना-पीना, बोलना आदि अहिंसात्मक है, उसके पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता।"·········दयालु कौन है? इसके उत्तर में धर्म-प्रकरण ग्रन्थ में लिखा है—"स्वल्प हिंसा का भी विपाक बड़ा दारुण होता है—यह जानकर जो जीव-वध में प्रवृत्त नहीं होता, वही दयालु है।"

उद्धरण यद्यपि लम्बा हो चुका है फिर भी इसमें अहिंसा और दया की एकता का प्रतिपादन बड़ा सुन्दर और मार्मिक हुआ है। इसलिए इसका लोभ-संवरण नहीं किया जा सका। स्मृतिकारों के शब्दों में भी दोनों का ऐक्य है—"जैसे निज को

अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही दूसरो को भी अपने प्राण प्रिय हैं, इसलिए अपने और पराये सुख-दुःख को समान समझ कर प्राणी मात्र की दया करनी चाहिए[१९६]।" इसी बात को आचार्य हेमचन्द्र दूसरे शब्दों में कहते हैं—"ज्यों निज को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, ठीक त्यों ही दूसरों को भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है—यह समझकर विवेकी मनुष्य किसी की भी हिंसा न करे[१९७]।" स्मृतिकार के शब्दों में जो तत्त्व 'दयां कुर्वीत' इस वाक्यांश में प्रकट हुआ है, वही तत्त्व आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में 'हिंसां नाचरेत्' इस वाक्यांश द्वारा प्रकट होता है।

भगवान् महावीर की दृष्टि में मोक्ष-मार्ग के निरूपण में अहिंसा-वर्जित दया के लिए कोई स्थान ही नहीं था और दूसरी ओर देखा जाय तो अहिंसा में पूर्व, पश्चिम और मध्य में—सब जगह दया ही दया भरी पड़ी है। हिंसा न करने का आधार है—स्व और पर का अनिष्ट, स्व का अनिष्ट—आत्मा का पतन और पर का अनिष्ट—प्राण-वियोग। अहिंसा में दोनो की दया एवं रक्षा है, स्व दया—अपना पतन नहीं होता और पर दया—पर का प्राण-वियोग नहीं होता। कुछ गहराई में जायें तो हिंसा इसलिए वर्जनीय है कि उससे अपनी आत्मा का पतन होता है और अहिंसा इसलिए आदरणीय है कि उससे अपनी आत्मा का कल्याण होता है। जैन-दृष्टि के अनुसार यह भाव-हिंसा और भाव-अहिंसा का स्वरूप है।

अपनी राग-द्वेषयुक्त असंयममय प्रवृत्तियों से दूसरो को सुख मिल जाए, उससे कोई व्यक्ति अहिंसक नहीं बनता और अपनी राग-द्वेष-मुक्त संयममय प्रवृत्तियो से किसी को कष्ट भी हो जाए, तो उससे कोई व्यक्ति हिंसक नही बनता। इसलिए मोक्ष-मार्ग की मीमांसा में दया वही है, जो अहिंसा के साथ-साथ चले अथवा अहिंसात्मक होकर बाहर निकल आये। इसीलिए कहा है—"जो अहिंसा है, वह अनुकम्पा है[१९८]।" "मुनि प्राणी मात्र की दया पालने के लिए आहार करे[१९९]।" जो मुनि अपने धर्म का पालन नहीं करता, वह छह काय का हिंसक है। इसको शास्त्रकारों ने 'छह काय निरणुकंपा[२००]'—इस वाक्य से कहा है। यहाँ अनुकम्पा और अहिंसा की पूर्ण एकता है। कारण कि मुनि-धर्म सर्वथा अहिंसात्मक होता है। "मुनि भूत मात्र पर दया करता हुआ बैठा रहे और सोए[२०१]।" भगवती-सूत्र मे अनुकम्पा का विस्तार करते हुए जो कहा है—"प्राणीमात्र को दुःख न देना, शोक उत्पन्न न करना, न रुलाना, अश्रुपात न करवाना, ताड़ना-तर्जना न देना[२०२]", उससे दया की

अहिंसात्मकता स्वयं सिद्ध होती है। "दया, संयम, लज्जा, जुगुप्सा, अछलना, तितिक्षा, अहिंसा और ह्री—ये सब एकार्थक हैं[२०३]।" "धर्म का मूल अहिंसा है क्योंकि वह दयामय-प्रवृत्तिरूप होता है[२०४]।" इसमें भी अहिंसा और दया की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है।

अहिंसा और दान की एकता

"सब दानो में अभय-दान श्रेष्ठ है[२०५]।" गदर्भाली मुनि संयति राजा से कहते हैं—"राजन्! तुझे अभय है। तू भी जीवों को अभय दे—उनकी हिंसा मत कर[२०६]।" आचार्य भिक्षु ने अभय-दान की व्याख्या करते हुए बताया है कि "मनसा-वाचा-कर्मणा, कृत-कारित-अनुमति से छह काय के जीवों को भय न उपजाना, यह अभय-दान है और इसी का नाम दया है[२०७]।" पद्मपुराण के गो-व्याघ्र-संवाद में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। "गाय कहती है—भाई बाघ! विद्वान् सत्युग में तप की प्रशंसा करते हैं, त्रेता में ज्ञान और कर्म की, द्वापर में यज्ञ की परन्तु कलियुग में एकमात्र दान ही श्रेष्ठ माना जाता है। सम्पूर्ण दानों में एक ही दान सर्वोत्तम है, वह है सम्पूर्ण भूतों को अभय-दान। इससे बढ़कर कोई दूसरा दान नहीं है। जो समस्त चराचर प्राणियों को अभय-दान देता है वह सर्व प्रकार के भय से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है। अहिंसा के समान न कोई दान है, न कोई तपस्या। जैसे हाथी के पद-चिह्न मे अन्य सब प्राणियो के पद-चिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार सभी धर्म अहिंसा से प्राप्त हो जाते हैं[२०८]।"

"अभय दान के समान दूसरा कोई परोपकार नहीं। गृहस्थपन में वह पूर्ण नहीं हो सकता[२०९]।" इसका तात्पर्य यह है कि प्राणी मात्र को अभय वही दे सकता है, जो स्वयं पूर्ण अहिंसक हो। मुनि पूर्ण अहिंसा के पथ पर चलते हैं, इसलिए वे सदा सब को अभय किये रहते हैं। गृहस्थ यथाशक्ति अहिंसा का पालन करता है, इसलिए उसमें अभय-दान की पूर्णता नही आती।

"अहिंसक ही स्वतः और परतः दोनो प्रकार से अभयंकर हो सकता है। स्वयं हिंसा से निवृत्त होता है, इसलिए स्वतः और दूसरो को 'हिंसा न करो' ऐसा उपदेश देकर प्राणी मात्र पर अनुकम्पा करता है, इसलिए परतः[२१०]।" अभय-दान के अतिरिक्त दो दान और हैं—ज्ञान-दान तथा धर्मोपग्रह-दान—ये भी अहिंसात्मक ही

हैं। जिससे आत्म-विकास हो, वह ज्ञान मोक्ष का मार्ग है—प्रकाशकर है। उसका वितरण आत्म-शुद्धि का हेतु होने के कारण अहिंसा ही है। अब रहा धर्मोपग्रह-दान। वह भी संयम-पोषक होने के कारण अहिंसा है। "सब आरम्भ से निवृत्त संयमी को निर्दोष आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि देना धर्मोपग्रह-दान है[११]।" इसमें दाता का आत्म-संवरण और ग्राहक का संयम-पोषण होता है। इसलिए यह संयम-मूलक प्रवृत्ति है। जहाँ संयम है, वहाँ अहिंसा का नियम है। अब बाकी रहे व्यावहारिक दान—उनसे अहिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं। वही दान और अहिंसा एक है, जो वास्तव में त्याग हो, संयममय हो अथवा संयम-पोषक हो। कारण कि यह मोक्ष-मार्ग के तत्त्वों का प्रस्ताव है। व्यावहारिक दान में अहिंसा (दया) का पालन नहीं होता, इसलिए वह 'त्यागमय' दान नहीं किन्तु 'भोगमय' दान है। मोक्ष-मार्ग में दान वह होना चाहिए; जिसके पीछे भूत मात्र को अभय देने वाली दया हो। तीर्थङ्करों को 'अभयदये'[१२]' इसीलिए कहा है कि उनकी दया में प्राणी मात्र को अभय होता है। आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"हिंसा और असंयम के पोषक दान से दया उठ जाती है और हिंसायुक्त दया से अभय-दान उठ जाता है। इसलिए हिंसा-युक्त दान और हिंसा-युक्त दया—यह दोनों सामाजिक तत्त्व है।" इनका अहिंसा के साथ मेल नहीं बैठता। आचारांग-सूत्र के टीकाकार शीलांकाचार्य ने भी यही बात कही है—"समाज-शास्त्रियों के मतानुसार पानी देने वाला तृप्ति, अन्न देने वाला अक्षय सुख, तिल देने वाला इष्ट सन्तान और अभय देने वाला आयुष्य प्राप्त करता है। तुष में धान के कण की तरह इनमें एक अभय-दान ही सुभाषित है। बाकी का कुमार्ग है। उसका उपदेश देने वाले लोगो को हिंसा में प्रवृत्त करते हैं।" त्रिकरण-त्रियोग से हिंसा न करना—यही अहिंसा है, यही दया है और यही अभय-दान है। ये ही दया और दान तीर्थङ्करों द्वारा अनुमोदित और ये ही मोक्ष के मार्ग हैं।

लौकिक और लोकोत्तर

धार्मिकों के दो प्रमुख तत्त्व मैत्री—अहिंसा और त्याग—अपरिग्रह जनता के सामने आये, उनकी महिमा बढ़ी। तब सामाजिक क्षेत्र में भी उनका अनुकरण हुआ, उनके स्थान पर दया और दान—इन दो तत्त्वों की सृष्टि हुई। परसुखाशंसा और तदर्थ प्रयत्न

करना दया और परार्थ उदारता एवं अनुग्रह करना दान हैं—ये परिभाषाएं बनीं। धार्मिकों के तत्त्व—मैत्री और त्याग का लक्ष्य था—आत्म-शुद्धि और मानदंड था—परमार्थ—मोक्ष-साधकता, अहिंसा और निर्ममत्व। सामाजिक तत्त्व दया और दान का लक्ष्य था—समाज व्यवस्था और मानदड था परार्थ—दूसरों के लिए। इसीलिए आगे चलकर धर्माचार्यों ने इनसे धार्मिक तत्त्वों का पार्थक्य दिखाने के लिए इनके दो-दो भेद किए—लौकिक और लोकोत्तर। इसका तात्पर्य यह न लें कि धार्मिक क्षेत्र में दया और दान शब्द प्रयोग में ही नहीं आये थे। इन दोनों का अस्तित्व था, किन्तु था अहिंसा और त्याग के रूप में ही।

समाज मे ज्यों-ज्यों संग्रह की भावना बढ़ती गई, त्यों-त्यों समाज-शास्त्री दान को धर्म बताकर इसकी महिमा बताते गए। उपनिषद् में एक घटना का वर्णन है कि "देव, मनुष्य और असुर—इन तीनों ने प्रजापति से उपदेश चाहा। तब प्रजापति ने उन्हें उपदेश देते हुए तीन दकार ('द' 'द' 'द') कहे। भोग-प्रधान देवों से कहा—दमन करो, सग्रह प्रधान मनुष्यों से कहा—दान करो, हिंसा-प्रधान असुरों से कहा—दया करो[२१३]।" इसको हम सामाजिक सत्य के रूप में स्वीकार करें तो यह साफ प्रतीत होता है कि दान पुराने समाज-शास्त्रियों की संग्रह-रोग के प्रतिकार में प्रयुक्त चिकित्सा विधि है। उन्होंने दान-धर्म की निरूपणा के द्वारा संग्रह का अन्त करना चाहा, परन्तु इसका परिणाम उल्टा हुआ। लोगों में सग्रह-वृत्ति रुकने की अपेक्षा लाखों-करोड़ों का सग्रह कर थोड़े से दान से शुद्ध हो जाने की भावना उग्र हो गई। परिणाम यह हुआ कि दान-धर्म के नाम पर गरीबों का शोषण और उत्पीड़न बढ़ चला। तब धर्माचार्यों ने इसके विरोध में क्रान्ति का शंख फूंका—इसलिए फूंका कि धर्म के नाम पर समाज की विडम्बना हो रही थी। उन्होंने कहा—"जो निर्धन पुण्य कमाने के लिए, दान करने के लिए धन का संग्रह करता है, वह 'स्नान कर लूंगा' ऐसा ख्याल कर अपना शरीर कीचड़ से लपेटता है[२१४]।"—"न्यायोपार्जित धन से सम्पत्ति नहीं बढ़ती। स्वच्छ पानी से क्या कभी नदियां भरती हैं[२१५]?" समाज-शास्त्रियों की भी आंखें खुलीं। उन्होंने अपनी लेखनी की गति भी बदली। पर वे समाज की स्थिति न बदल सके। असहाय, अनाथ, अपाङ्ग आदि विशेष स्थिति वालों के सिवाय दूसरों को दान देने का निषेध किया जाने लगा—पाप बताया जाने लगा। फिर भी थोड़े से दान से धार्मिक बनने वाले पूंजीपतियों और बिना

श्रम रोटी पाने वाले भिखमंगो की भावना बदली नहीं। प्राग्-ऐतिहासिक युग का वर्णन करते हुए कवियो ने लिखा है कि यहाँ भारत में एक भी भिक्षुक नहीं था[२१६]। आज यहाँ भिखमंगो की एक बड़ी फौज है। यह किसका परिणाम है, थोड़ी गहराई में जायं तो इसे समझने में कठिनाई नहीं होगी।

आज का जागृत समाज और उसके निर्माता इन असमानता की बहुत सी खाइयो को पाट चुके हैं और रही-सही का भाग्य-निर्णय होने वाला है। दया और दान के नाम पर असहाय वर्ग के अपकर्ष और हीनता का समर्थन तथा सहायक वर्ग के उत्कर्ष और अहंभाव का पोषण आज सहा नहीं जा सकता। परिस्थिति के कुचक्र से बड़े-से बड़ा व्यक्ति या वर्ग असहाय हो सकता है, वह अपने सामाजिक भाइयों से सहायता की भी अपेक्षा रख सकता है, पर वह दया और धर्म के नाम पर उनसे सहायता नहीं चाहता है, वह चाहता है सौहार्द और भ्रातृत्व के नाते। इस दया और दान के नाम पर प्रबुद्ध धनी-वर्ग ने अपने अशिक्षित और असहाय भाइयो के साथ जितना सामाजिक अन्याय किया है, स्यात् उतना दूसरे नाम पर न तो किया है और न कभी हो भी सकता। खैर, जो कुछ हुआ हो—आज अपने सामाजिक सहयोगियों को हीन-दीन समझ कर उनकी सहायता के द्वारा धर्म—पुण्य कमाने की भावना टूटती जा रही है। आज उनकी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न हो रहा है और सम्मान के साथ उनकी व्यवस्था का समाजीकरण हो रहा है। बहुत से देशो में असहायों की व्यवस्था सरकार करती है। यहाँ भारत में भी भिक्षा-निरोधक विधि आदि नियम बना कर जनता के समर्थन-पूर्वक सरकारें भिखमंगों की फौज तितर-बितर कर रही हैं। किन्तु फिर भी प्राचीन व्यवस्था के अनुसार दया-दान की द्विविधता का जो प्रतिपादन हुआ, उस पर भी सरसरी दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

दया के दो भेद

दया दो प्रकार की है—लौकिक और लोकोत्तर। लोकोत्तर दया और अहिंसा एक है, यह पहले बताया जा चुका है। अब लौकिक दया के बारे में कुछ विचार करना है। यद्यपि तत्त्वतः दया के ये दो भेद नहीं होते, फिर भी शब्द की समानता से ऐसा हुआ है। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा है—

"भोले ही मत भूलज्यो, अणुकम्पारे नाम।
कीज्यो अन्तर-पारखा, ज्यू सीझे आतम काम॥
गाय भैंस आक थोहरनो, ये चारो ही दुद्ध।
ज्यो अनुकम्पा जाण ज्यो, मनमें आणी शुद्ध[२१७]॥"

लौकिक दया का मुख्य आधार है—समाज व्यवस्था एवं दुःखित व्यक्तियों पर अनुग्रह। उसमें हिंसा-अहिंसा का विचार नहीं किया जाता। इसीलिए वह लोकोत्तर दया से, दूसरे शब्दों में अहिंसा से पृथक् है। लौकिक दया को विशुद्ध अहिंसा न मानने के कारण जैन आचार्यों को काफी संघर्ष का सामना करना पड़ा। फिर भी वे अपनी तात्त्विक व्याख्या से पीछे नहीं हटे। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है—"भगवती अहिंसा त्रस और स्थावर सभी जीवों का कल्याण करने वाली है[२१८]।" इसकी टीका करते हुए अभयदेवसूरि लिखते हैं—"जो सर्वभूतक्षेमङ्करी है वही अहिंसा है, दूसरी नहीं। लौकिक जिसे अहिंसा कहते हैं, जैसे—'एक गऊ की प्यास बुझती है, उससे सात कुलों का निस्तार हो जाता है, इसलिए जलाशय वनाने चाहिये'—यह गो-विषयक दया उनके मत में (लौकिकों के मत में) अहिंसा है। किन्तु उसमे पृथ्वी, पानी तथा वहुत प्राणियो की हिंसा होती है, इसीलिए वह सम्यक् अहिंसा नहीं है[२१९]।" इसी प्रकार आचाराग सूत्र के विभिन्न स्थलो में प्रसिद्ध टीकाकार शीलाङ्काचार्य ने हिंसायुक्त लौकिक दया को विशुद्ध अहिंसा मानने का विरोध किया है[२२०]। उनकी स्पष्टोक्ति एवं विचार-व्यञ्जना में अत्यन्त ओज और निर्भीकता है—"कोई उनसे पूछता है, इस प्रकार तो समस्त लोक-प्रसिद्ध गो-दान आदि का व्यवहार टूट जायगा? उत्तर में कहा है—भले ही ऐसे वन्धनो के हेतुभूत व्यवहार टूट जाए। परमार्थ-चिन्ता में व्यवहार नही देखा जाता, वहाँ तो यथार्थ-निरूपण होता है[२२१]।" इस प्रतिपादन मे उन्हें आगम का समर्थन प्राप्त था। जैन शास्त्रों मे द्वादशांगी का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें जगह २ पर धर्मार्थ हिंसा का वहुमुखी विरोध किया गया है। "जो मन्द बुद्धि धर्म के लिए हिंसा करता है, वह अपने लिए महा भय पैदा करता है[२२२]।" "दूसरे के द्रव्य में जो अविरत है, वह सुखी नहीं वनता[२२३]।" "धर्म के लिए जीव-वध करने में दोष नही—यह अनार्य वचन है[२२४]।" "धर्म के लिए हिंसा नहीं करनी चाहिए—यह आर्य-वचन है[२२५]।" "जो सुख चाहने वाले व्यक्ति इस क्षणिक जीवन के परिवन्दन-मानन-पूजन के लिए, जन्म-

मरण से मुक्त होने के लिए, दुःख से छूटने के लिए छह काय की हिंसा करते हैं—आरम्भ-समारम्भ करते हैं, वह उनके अहित और अबोधि के लिए होता है[२२६]।" "दूसरों को सुख देने से सुख होता है—यह कहने वाले आर्य-धर्म और समाधि-मार्ग से दूर हैं[२२७]।" उक्त विचारो का अवलोकन करने से यह अपने आप उत्तर आता है कि भगवान् महावीर के समय में दया-दान मात्र को धर्म बताने वाली विचार-परंपराएं थी। उनपर आचारांग, सूत्रकृतांग और प्रश्नव्याकरण में सूक्ष्म और गम्भीर विचार किया गया है। उस समूची विचार धारा का सार हमें सूत्रकृतांग की निम्नवर्ती दो गाथाओं में मिल जाता है[२२८]:—

इह मेंगे उ भासति, सातं सातेण विज्जति।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहियं॥
मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुंपहा बहु।
एतस्स अमोक्खाय, अय हारिव्व भूरइ॥

पहली गाथा के पूर्वार्ध में पूर्व पक्ष का निरूपण है। उसकी मान्यता है—"सब जीव सुख के इच्छुक हैं, दुःख नहीं चाहते, इसलिए सुखार्थी पुरुष को स्वयं को, दूसरो को, सभी को सुख देना चाहिए। सुख देने वाला ही सुख पाता है[२२९]।" उत्तर-पक्ष में भगवान् महावीर के विचारो का निरूपण करते हुए सूत्रकार लिखते हैं कि "मोक्ष-मार्ग का विचार करते समय 'सुख देने से सुख होता है—यह सिद्धान्त युक्ति के प्रतिकूल होता है। कारण कि सांसारिक प्राणियो में अनेक प्रकार के इष्ट सुखों की आकांक्षा होती है, उसकी पूर्ति का मोक्ष मार्ग से सम्बन्ध नही जुड़ता। मोक्ष-मार्ग में स्वेच्छापूर्वक यथा शक्ति तपस्याजन्य कष्ट के लिए भी पर्याप्त स्थान है। 'सुख देने से ही सुख मिलता है', यह सिद्धान्त व्यावहारिक या सामाजिक हो सकता है, आध्यात्मिक नही। इस पर भी आप (पूर्व पक्ष के समर्थक) जैनेन्द्र-प्रवचन की अवमानना करना चाहें तो आप जानें, पर इससे आप भी आत्म-साधना का मार्ग नही पा सकते।" इन विचारों का मनन करने के बाद सहज ही इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि मोक्ष-मार्ग में अहिंसा का विचार होता है, भौतिक सुख-सुविधाओं का नहीं।

दुःखत्रयाभिघात के लिए प्रवृत्त सांख्यों ने भी ठीक इसी प्रकार याज्ञिक पक्ष का विरोध किया है। यज्ञ में पशु-वध करने वालो का पक्ष यह था कि हिंसनीय का

अनुग्रह-रहित प्राण-वियोजन किया जाता है, वह हिंसा है, किन्तु अनुग्रह-पूर्वक प्राण-वियोजन करना हिंसा नहीं है। यज्ञ में बलि हुए पशु को स्वर्ग मिलता है—ऐसा शास्त्रीय विधान है, इसलिए यज्ञ में उनकी बलि करना हिंसा नहीं प्रत्युत धर्म है[२३०]। 'परानुग्रहकरो व्यापारो धर्मः', 'परपीडाकरो व्यापारोऽधर्मः'—दूसरों पर अनुग्रह करना—यह धर्म का लक्षण है। यज्ञ के द्वारा यज्ञकर्ता और हिंसनीय पशु दोनों को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसका प्रतिवाद करते हुए साख्य-आचार्यों ने लिखा है कि "यदि दूसरों का अनुग्रह धर्म और कष्ट अधर्म है—यही धर्म-अधर्म का अभिवचन है तब तो तपस्या, जाप, स्वाध्याय आदि से दूसरों का अनुग्रह नहीं होता—दूसरों को तपस्या की प्रेरणा देते हैं, वे करते हैं, उससे उन्हें कष्ट भी होता है। उसमें परानुग्रह नहीं है, इसलिए वह अधर्म होगा और मदिरा पिलाने में परपीडाकरत्व का अभाव है, इसलिए वह धर्म होगा। यह इष्ट नहीं है अतएव 'परानुग्रह धर्म और परपीडा अधर्म'—धर्म और अधर्म का यह लक्षण मानना सगत नहीं[२३१]।" जैन-परम्परा के द्वारा यज्ञ-वध पर प्रखर प्रहार होता रहा, हिंसा धर्म-पुण्य का हेतु नहीं—यह माना जाता रहा। आगे चल कर वह परंपरा कुछ बदल गई—लौकिक वेग के सामने झुक गई। दया के द्रव्य और भाव—ये दो भेद कर द्रव्य-दया—व्यावहारिक अहिंसा को पुण्य का हेतु माना गया[२३२]। इस विषय को लेकर आचार्य श्री तुलसी ने अपनी कृति जैनसिद्धान्त दीपिका में बड़ा मार्मिक विवेचन किया है। उसका संक्षेप में सार यह है—आध्यात्मिक दया और अहिंसा दोनो एक हैं। लोक-दृष्टि में 'प्राण-रक्षा, परानुग्रह और उसके साधनों को भी' दया कहा जाता है। पर उनमें आत्म-शुद्धि का तत्त्व न होने के कारण वह मोक्ष का हेतु नहीं बनती। वह आत्म-साधक नहीं है—उसके मुख्यतया तीन कारण हैं—मोह का सम्मिश्रण, असंयम का पोषण और बलात्कारिता। प्रयोग के रूप में रक्खें तो उसका रूप यो बनता है कि—लोक-दया मोह की परिणति है, असंयम की पोषक है तथा उसमें बल का प्रयोग होता है, इसलिए वह तत्त्व-दृष्टि में सम्यक् अहिंसा नहीं है। अतएव वह धर्म और पुण्य की हेतु भी नहीं है।

दान के प्रकार

जैन सूत्रो में दान के दो रूप मिलते हैं। पहले में द्विविध दान का निरूपण हुआ है—संयतिदान, असंयतिदान[२३३]। और दूसरे में दशविध दान का—अनुकम्पा-

दान, संग्रह-दान, भय-दान, कारुण्य-दान, लज्जा-दान, गारव-दान, अधर्म-दान, धर्म-दान, करिष्यति-दान, कृत-दान[२३४]। ये द्विविध दान के ही विस्तृत रूप हैं। धर्म-दान का संयति-दान और शेष नौ का असंयति दान में समावेश हो जाता है। ब्राह्मण-परम्परा तथा समाज-शास्त्रों में पुण्यार्थ दान का भी स्थान रहा है। भगवान् महावीर के श्रमण-संघ के सामने भी यह प्रश्न आना स्वाभाविक था। भगवान् ने इसके सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए, वे सूत्रकृतांग में वर्णित हैं। संक्षेप में वे यों हैं—

"राजा-अमात्य, सेठ-साहूकार आदि कहें कि दानशाला आदि कराने में मुझे क्या होगा? तब साधुओं को 'पुण्य होगा या पाप' ऐसा कुछ भी नही कहना चाहिए। कारण कि दान की तैयारी में बहुत से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है, इसलिए उसमें 'पुण्य होता है' यह नही कहना चाहिये। उसका निषेध करने से, जिनको अन्न आदि दिए जाते, उनको अन्तराय होती है, इसलिए 'पुण्य नहीं है,' यह भी नहीं कहना चाहिए। जो दान की प्रशंसा करते हैं—वे प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं और जो उसका निषेध करते हैं—वे दान पाने वालों की वृत्ति का छेद करते हैं[२३५]।"

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट शब्दो में रख दिया कि वर्तमान में—दानशाला आदि कराते समय या कराने के लिए पूछे, उस समय उसे पुण्य या पाप कुछ भी नहीं कहना चाहिए। उपदेश—काल में जो दान जैसा है, उसको वैसा बताने में कोई आपत्ति नहीं[२३६]।

संयति-दान में दान शब्द क्रियामात्र का सूचक है, वस्तुवृत्त्या यह त्याग है—अतिथि-संविभाग-व्रत है[२३७]। अभय-दान का भी सूत्रों में उल्लेख हुआ है। वह वस्तुवृत्त्या अहिंसा है—यह पहले कहा जा चुका है। जैन आगम के उत्तरवर्ती साहित्य में दान के 'लौकिक और लोकोत्तर'—ये दो विभाग उपलब्ध होते हैं[२३८]। लौकिक दान अनेक प्रकार का है—गो-दान, भूमि-दान, हिरण्य-दान, अन्न-दान आदि-आदि। लोकोत्तर दान—संयमी—साधु को आहार, पानी, भैषज्य, वस्त्र, पात्र, शय्या-संस्तारक आदि देना।

आगम-साहित्य में वर्णित दान के प्रकार जानने के बाद 'दान देने से क्या होता है? दान देना चाहिए या नहीं?' इन प्रश्नों के उत्तर जानने की भी इच्छा उत्पन्न होती है। इसलिए इसकी भी हम उपेक्षा नही कर सकते।

दान का फल

संयति को प्रासुक, एषणीय आहार पानी देने से निर्जरा[२३९] और असंयति को शुद्ध या अशुद्ध आहार-पानी देने से पाप कर्म का बन्ध होता है[२४०]।

दान का विधान और निषेध

संयति-दान का अनेक स्थलों में विधान है। श्रावकों की धार्मिक चर्या के वर्णन में उनका प्रचुर उल्लेख मिलता है। असंयति-दान का भी श्रावकों की सामाजिक चर्या के वर्णन में अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है, किन्तु उसका विधान कहीं भी नहीं मिलता और न किया भी जा सकता था। देश, काल, स्थिति के अनुरूप बदलने वाले सामाजिक धर्मों का विधान जैन सूत्रों द्वारा नहीं किया गया, कारण कि वे आत्म-निष्ठ भगवान् महावीर एवं उनकी शिष्य परम्परा—श्रमणों के उपदेश हैं। उनमें अपरिवर्तनीय मोक्ष-धर्म का विधान किया गया है।

इसी प्रकार सामान्यतः उसका निषेध भी नहीं किया गया है।

असंयति-दान के अनिषेध का कारण

प्र०—असंयति दान मोक्ष-मार्ग नहीं है, इसलिए उसका विधान नहीं किया गया—यह तो ठीक है, किन्तु वह संसार का कारण है, तब उसका निषेध क्यों नहीं किया गया ?

उ०—श्रमण के लिए असंयति-दान सर्वथा निषिद्ध है[२४१]। श्रावक गृहस्थ है, समाज में रहता है, वह सर्व-विरति नहीं होता। यथा शक्ति धर्म का आचरण करता है। इसलिए उसका क्षेत्र केवल आध्यात्मिक ही नहीं होता[२४२]। वह सामाजिक होने के कारण बहुत सारी समाज द्वारा अभिमत अनाध्यात्मिक प्रवृत्तियां करने के लिए भी बाध्य होता है—करता है। यद्यपि वह उन प्रवृत्तियों को मोक्ष का मार्ग नहीं समझता, फिर भी वह सामाजिक सहयोग की प्रणाली के आधार पर उनका अनुसरण किये बिना नहीं रह सकता। यही कारण है कि समाजाभिमत असंयति-दान का निषेध नहीं किया गया—यह मन्तव्य आगमिक परंपरा का है।

उत्तरवर्ती साहित्य और असंयति-दान

'असंयति-दान मोक्ष का मार्ग नहीं'—यहाँ तक इसमें कोई विवाद नहीं। औपनिषदिक भी यही कहते हैं कि दान से पुण्य लोक की प्राप्ति होती है। मुक्ति ब्रह्म-निष्ठ

को ही मिलती है[२४३]। इस तुलना में एक बड़ा भारी भेद छिपा हुआ है, वह भी दृष्टि से परे नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में जैसे "श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से न दो, सौन्दर्य से दो, लज्जा से दो, भय—पुण्य-पाप के विचार से दो, ज्ञान-पूर्वक दो[२४४]।" दान को व्यापकता के साथ धर्म-स्कन्ध माना है, वैसे जैन सूत्रों ने नही माना। यह ठीक है कि मोक्ष का साक्षात् कारण शुक्ल ध्यान, शुद्धोपयोग सर्व-सम्वर-रूप अवस्था है; जो उपनिषद् के शब्दों में ब्रह्म-निष्ठ दशा है। किन्तु धर्म का स्कन्ध वही दान हो सकता है, जो आत्म-शुद्धि का साक्षात् कारण हो, दूसरे शब्दों में जो दान साक्षात् सम्वर-निर्जरा-रूप हो। पुण्य लोक भी उसीका सहभावी गौण फल है। इसी का फलित यह हुआ कि संयति-दान ही धर्म का अंग है और उसीके साथ पुण्य-कर्म का वन्ध होता है[२४५]।

'असंयति-दान अशुभ कर्म-वन्ध का हेतु है'—यह सिद्धान्त शास्त्र-सम्मत होने पर भी लोकमत के सर्वथा और कुछ हद तक वैदिक विचार-धारा के भी प्रतिकूल था। बहुत सम्भव है कि यह बड़े भारी संघर्ष का विषय रहा हो। 'अणुकंपादाणं पुण, जणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं'—अनुकम्पा-दान का भगवान् महावीर ने प्रतिषेध नही किया, यह मध्यम मार्ग संघर्ष-काल के प्रारम्भ में निकला प्रतीत होता है। इसमें बताया गया कि "दान की प्रशंसा और निषेध दोनों नही करने चाहिये—यह मोक्षार्थ दान की विधि है[२४६]।"

इससे भी विरोध-शमन नहीं हुआ, तब आगे चल आचार्यों ने अनुकम्पा-दान को पुण्य का हेतु माना। इस परंपरा के अनुसार फल-दान की अपेक्षा दान के तीन भाग हो गए—(१) संयति-दान—मोक्ष का साधन, प्रासंगिक फल के रूप में स्वर्ग का भी[२४७], (२) असंयति-दान—पाप—अशुभ कर्म-वन्ध का हेतु[२४८], (३) अनुकम्पा-दान—पुण्य-वन्ध का—स्वर्ग तथा मनुष्य के भोगों का हेतु[२४९]। इस नवीन परंपरा से सम्भवतः विरोध का शमन तो हो गया किन्तु आगमिक मन्तव्य की सुरक्षा नही हो सकी। जैन दृष्टि के अनुसार निर्जरा और पुण्य का (शैलेशी-अवस्था के अतिरिक्त) सहचारित्व है[२५०]। 'निर्जरा अल्प और पुण्य अधिक', 'निर्जरा अधिक और पुण्य अल्प',—यह हो सकता है किन्तु 'केवल पुण्य'—यह कभी नहीं हो सकता। फिर भी केवल पुण्य-हेतुक दान की मान्यता का अङ्गीकरण हुआ है, वह वैदिक परम्परा की दान-विषयक मान्यता का केवल अनुकरण मात्र है—'एते

पुण्यलोका भवन्ति[२५१]' इसका प्रतिविम्व सा है। दशवैकालिक मे साधु को पुण्यार्थ तैयार किया हुआ आहार-पानी ग्रहण करने का निषेध किया है,[२५२] उससे पता चलता है कि यह लोक-प्रचलित था। पर 'अमुक दान' केवल पुण्य के लिए होता है, यह सिद्धान्त जैन सूत्रों मे कही भी मान्य नही हुआ है। नौ पुण्य वतलाये हैं; उनमें अन्न-पुण्य, पान-पुण्य आदि-आदि कहे गए हैं, किन्तु इनका सम्बन्ध सयमी साधु के दान से है[२५३]।

परम्परा-भेद के ऐतिहासिक तथ्य

"धर्म-दान मोक्ष-साधना का अग है और शेष नौ दान लौकिक हैं—मोक्ष मार्ग के अंग नही हैं"—इस आगम-मूलक मान्यता का वीर-निर्वाण की तीसरी शती के पूर्वार्ध तक पूर्ण समर्थन होता रहा, किन्तु उससे आगे सम्पूर्ण जैन संघ इस पर एकमत नही रहा। तात्कालिक परिस्थिति एव उसके उत्तरवर्ती दान-विषयक जैन साहित्य के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है। दान-प्रणाली का विस्तार-काल भद्रवाहु स्वामी के समय में होने वाला लम्बा दुर्भिक्ष है। उस समय भिक्षा के लिए जो ऊधम होता, पट्टावली से उसकी पूरी जानकारी मिलती है। दुर्भिक्ष का उल्लेख नन्दी-टीका और परिशिष्ट-पर्व मे भी हुआ है। भिखमंगो की कोई गिनती नही रही। कवियो, लेखको और यहाँ तक कि धर्मगुरुओ द्वारा भी 'दान की महिमा' के वड़े लम्वे-चौड़े पुल वाधे गए। वहुत से जैन साधु भी शिथिल हो स्वेच्छाचारी वन गए। यह वी० नि० दूसरे शतक के उत्तर चरण की घटना है। इसका धीमे-धीमे प्रभाव वढ़ा, जो कुछ आगे चल तीसरे शतक में दृढमूल वन गया। जैन साहित्य में दान-विषयक साहित्य, विविध विधि-निषेध और आलोचनाएं—इसी काल से प्रारम्भ होती हैं, जो आगे क्रमशः वढती ही चली गईं।

दो परम्पराएं

दान का सामूहिक वातावरण और पुण्यार्थ दान मानने वालो का समाज में प्रभाव एवं लोकप्रियता देख आगम की कठोर परम्परा मे कुछ परिवर्तन लाने वाली परम्परा ने पुण्यार्थ दान वाली विचार-धारा का आश्रय लिया। ऐसा प्रतीत होता है, आगमों के आधार पर चलने वाली साधु-परम्परा न केवल मौलिक सिद्धान्त पर अटल ही रही, अपितु उसने नई परम्परा का विरोध भी किया, जिसका उत्तरवर्ती

साहित्य में पूर्व पक्ष के रूप में उल्लेख मिलता है। पूर्व पक्ष का मुख्य तर्क यह रहा कि "दीन-अनाथ व्यक्ति असंयत हैं इसलिए उन्हें दान देना, मोक्ष का मार्ग एव धर्म-पुण्य का हेतु नहीं हो सकता[२५४]।" दूसरे पक्ष द्वारा इसके उत्तर में यह कहा गया कि "सामान्यतः यह ठीक है, असंयति-दान, मोक्ष एवं धर्म-पुण्य का हेतु नही बनता किन्तु अनुकम्पा-दान इसका अपवाद है। वह शुभाशय का हेतु होने से पुण्य-बन्ध का कारण है[२५५]।"

अनुकम्पा-दान पर एक दृष्टि

'अनुकम्पा[२५६]-दान'—यह शब्द आगमिक है। इसे पुण्य-हेतु मानने की बात आगम में नहीं मिलती। अनुकम्पा-दान की व्याख्या करते हुए टीकाकारने इतना ही लिखा है—"अनुकम्पया कृपया दानं दीनानाथविषयमनुकम्पादानम्" इसका आधार सम्भवतः वाचक-मुख्य उमास्वाति का यह श्लोक है :

"कृपणेऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद् दीयते कृपार्थादनुकम्पात् तद् भवेद् दानम्॥

कृपण, अनाथ, दरिद्र, कष्ट-ग्रस्त, रोगी, शोकाकुल—ऐसे व्यक्तियों को अनुकम्पा-पूर्वक जो दिया जाए—वह अनुकम्पा-दान है।" खैर, इसकी व्याख्या मे दोनो परम्पराओं में कोई मत-भेद नहीं। मत-भेद सिर्फ यही है कि एक ने इसे पुण्यार्थ दान की कोटि का माना, तब दूसरी ने नहीं माना। एक बात तो यह हुई।

दूसरा प्रश्न यह उठा कि श्रावकों को असयति को दान देना चाहिए या नही—उनके लिए यह विहित है या निषिद्ध ? यह निश्चित है कि पूर्व-पक्ष असयति-दान को धर्म-पुण्य का हेतु मानने का प्रबल विरोधी था, फिर भी इसे 'निषिद्ध' मानता था, कोई उल्लेख नही मिलता है। आगमिक परम्परा के अनुसार न निषिद्ध माना भी जाता था। किन्तु उत्तर-पक्ष की युक्तियों एवं निर्णय को देखने से मालूम होता है कि 'निषिद्ध' के समर्थक भी कोई न कोई थे, वह कोई परम्परा थी या व्यक्तिगत विचार थे—यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसके उत्तर मे अनेक आचार्यों ने अनेक युक्तिया प्रस्तुत की हैं।

(१) अनुकम्पा-दान का भगवान् ने निषेध नही किया है[२५७]।

(२) तीर्थंङ्कर स्वयं दीक्षा के पूर्व वार्षिक दान देते हैं[२५८]।

(३) पूर्ववर्ती श्रावकों के द्वार सब के लिए खुले रहते थे।

इन युक्तियों के अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र ने महावाक्यार्थ के द्वारा भी यह सिद्ध किया है कि 'अनुकम्पा-दान' श्रावकों के लिए निषिद्ध नहीं है[२०९]।

इसके बाद तीसरी विचार-धारा आचार्य श्री भिक्षु की है, जो आगमिक विचार-धारा की आभारी है। आचार्य भिक्षु ने बताया कि 'संयति-दान, ज्ञान दान और अभय-दान—ये तीनों दान अहिंसात्मक हैं, इसलिए मोक्ष के मार्ग हैं। इनके अतिरिक्त जो कुछ दान है, वह लौकिक है। उससे धर्म-पुण्य का कोई सम्बन्ध नहीं। अनुकम्पा-दान के लिए भी आपने बताया कि वह श्रावकों के लिए अधर्म-दान की भाँति निषिद्ध भी नहीं है तो सयति-दान की भाँति विहित भी नहीं है।

तीर्थंकरों ने दीक्षा ग्रहण से पूर्व दान किया, इसीलिए यदि वह पुण्य का हेतु है, तब तो तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण के पूर्व स्नान आदि करते हैं, वे भी पुण्य के हेतु होने चाहिए। तथा सावत्सरिक दान अनुकम्पा या दीनोद्धार के लिए नहीं होता। उसे सभी वर्गों के लोग ग्रहण करते हैं, केवल दीन-वर्ग नहीं[२१०]। यह दान एक मात्र रीति का परिपालन है[२११]। आचार्य मलय गिरि ने आवश्यक टीका मे लिखा है कि भगवान् ऋषभनाथ के समय कोई अनाथ दीन या याचक थे ही नहीं। फिर भी उन्होंने दान दिया था।

श्रावक समाज मे रहते हैं, इसलिए वे सामाजिक व्यवहार का अनुसरण किये बिना कैसे रह सकते हैं? वे यदि पहले अनुकम्पा-दान देते तो ससार के व्यवहार का पालन करते और आज भी यदि देते हैं, तो वही व्यवहार पालन होता है। तथा 'अपावृतद्वाराः'[२१२] इस विशेषण का दान से कोई भी सम्बन्ध नही है। यह विशेषण उनकी धर्म-दृढ़ता का सूचक है[२१३]। उन्हे किसी भी पर तीर्थिक का भय नही था।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य भिक्षु की विचार-सरणि के आधार पर आगमिक परम्परा का समर्थन किया गया है। जो दान संयमोपवर्धक है, वही निरवद्य मोक्ष-मार्ग का हेतु है और जो संयमोपवर्धक नही, वह सावद्य—अशुभ कर्म-बन्ध का हेतु है। आगमिक परम्परा से आगे बढ़कर 'अनुकम्पा-दान' को पुण्य का हेतु मानने वालो की युक्तिया यहाँ एकदम लचीली हो जाती हैं, जब वे इष्टापूर्त्त का खण्डन करते हैं[२१४]। "इष्टापूर्त्त आदि मे थोड़ों का उपकार होता है और आरम्भ अधिक होता है, इसलिए वह अनुकम्पा नही है[२१५]।"

तब प्रश्न हुआ कि 'प्रदेशी राजा ने दानशाला बनाई' यह क्या है ? इसके उत्तर में "उसका आलम्बन पुष्ट था, वह प्रवचन की उन्नति का हेतु था"[२६६] अथवा "जहाँ थोड़े आरम्भ से बहुतों का उपकार होता है, वह अनुकम्पा ही है"[२६७] आदि-आदि दी जाने वाली युक्तियां प्रामाणिक जगत् के लिए कार्यकर नही हो सकतीं। याज्ञिक भी यही कहते हैं कि "यज्ञ-हिंसा से बहुतो का उपकार होता है तथा पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक होता है, इसलिए उसमें कोई दोष नहीं[२६८]।" यदि थोड़े पाप और अधिक पुण्य की क्रिया को ठीक माना जाए तो फिर याज्ञिक हिंसा का विरोध करने का कोई आधार नही रहता। एक ही क्रिया में पाप और पुण्य दोनों हो नहीं सकते। दोनो के कारण पृथक्-पृथक् हैं। पृथक्-पृथक् कारण की अपेक्षा रखने वाले दो कार्य यदि एक ही कारण से उत्पन्न हो जायं, तब फिर उनके कारणों को पृथक्-पृथक् मानने की आवश्यकता नही रहती।

धर्म-परीक्षा के लिए कष, छेद और ताप—ये तीन बातें बतलाई हैं। कष का अर्थ है विधि और प्रतिषेध। निर्जरा के लिए—मोक्ष के लिए तपस्या, ध्यान आदि क्रिया करनी चाहिए—यह विधि-वाक्य है। प्राणी मात्र की हिंसा नहीं करनी चाहिए—यह निषेध-वाक्य है। किन्तु जो—

"अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वाः, असुरा इव विष्णुना।
उच्छेदनीयास्तेषां हि, वधे दोषो न विद्यते ॥"

—इस प्रकार की क्रिया में हिंसा का प्रतिषेध है, वह धर्म की कसौटी नहीं है। यदि यह ठीक है, तब फिर राग-द्वेष की परिणति एवं आरम्भ में हिंसा का प्रतिषेध कैसे माना जा सकता है ? केवल 'परिणाम शुभ है' इस पर बल देना ही ठीक नही होता। यह तो वैदिक भी कह सकते हैं कि "हम किसी को मारना नही चाहते, अधर्म का नाश चाहते हैं, हमारा उद्देश्य पवित्र है।" संसार-मोचक सम्प्रदाय के अनुयायी भी क्या अपना उद्देश्य पवित्र नहीं बतलाते ? वे कहते हैं—"अत्यन्त दुःखी, दीन, हीन, रोग-ग्रस्त प्राणी जो निरन्तर दुःखी रहते हैं, उन्हें मार डालना चाहिए—यह महान् परोपकार है। यह देखने में भले ही अप्रिय लगे, किन्तु इसका परिणाम सुन्दर होता है। जो इस कार्य को बुरा बतलाते हैं, इसका निषेध करते हैं, वे पापी हैं[२६९]।" यह उनके मन्तव्य का सार है। उनका उद्देश्य मारना नही, किन्तु दुःखी का दुःख दूर करना है। पर तत्त्व-चिन्ता के मार्ग में—'इसमें हमारा कोई स्वार्थ नहीं'

'यह परोपकार है', 'इसमें आत्म-सन्तोप होता है', 'पर-तृप्ति होती है,' 'मन शुद्ध है' 'मन को शुद्ध मालूम देता है'—आदि-आदि कल्पनाए सही नही होती। इसलिए इन शब्दों की दुहाई से क्या? वृत्तिया कैसी हैं—रागात्मक हैं या अहिंसात्मक? इस वात की परीक्षा होनी चाहिए। लोकमान्य तिलक ने लिखा है—"किसी काम में 'मन की गवाही लेना' यह काम अत्यन्त सरल प्रतीत होता है, परन्तु जव हम तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से इस वात का सूक्ष्म विचार करने लगते हैं—'शुद्ध मन' किसे कहना चाहिए, तव यह सरल पंथ अन्त तक काम नही दे सकता[१७०]।"

विश्व-चिकित्सा-संघ ने दया-प्रेरित हत्या की निन्दा की है:—

विश्व-चिकित्सा-संघ ने एक तीव्र विवाद के वाद दया से प्रेरित होकर मरीज को मार डालने के कार्य की निन्दा करने का निश्चय किया है। भारत के डायरेक्टर एस० जी० सेन और ब्रिटेन के डा० ग्रेग दोनों ने कहा कि वहुत से मरीज को असाध्य समझ कर उसकी आत्मा को शारीरिक कष्ट से मुक्त करने के लिए उसे मारने की दवाई दे देते हैं। फ्रान्स के डा० मार्सल पूमेलौक्स ने कहा कि इस प्रकार डाक्टरो के लिए गुनाह करने के मार्ग खुल जायेंगे। एक प्रस्ताव में संघ ने सिफारिश की है कि प्रत्येक देश का राष्ट्रीय चिकित्सा-एसोसिएशन इस प्रकार की हत्या की निन्दा करे[१७१]।

अनुकम्पा के दो भेद होते हैं—द्रव्य और भाव। अन्न आदि देना—यह द्रव्य-अनुम्पा है। धर्म-मार्ग में प्रवृत्त करना—यह भाव-अनुकम्पा है। भाव-अनुकम्पा मोक्ष का मार्ग हैं और द्रव्य-अनुकम्पा ससार का। दुःखी का दुःख देख कर रो पड़ना अनुकम्पा हो सकती है पर वह धर्म-पुण्य का हेतु नही हो सकता। आचार्य भिक्षु के सामने प्रदेशी की दानशाला का प्रश्न भी उलझन का नहीं था। प्रदेशी ने 'दानशाला' वनाई—यह उनका राज-धर्म था। राज-धर्म लौकिक धर्म है, आध्यात्मिक नही। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट, यौक्तिक और विशुद्ध है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में दान का तत्त्व यह है—

अव्रतमें दे दातार, ते किम उतरै भव पार।
मार्ग नही मोख रो ए, छान्दो इण लोक रो ए॥

अव्रती—असंयमी को जो कुछ दिया जाता है, उससे आत्म-शुद्धि कैसे हो?

वह मोक्ष का मार्ग नहीं है, लौकिक अभिप्राय है। समाज की अभिरुचि है—प्रथा है। गृहस्थ भिक्षा का अधिकारी नहीं है, दान का पात्र नहीं है। दान का एकमात्र वही पात्र—अधिकारी है, जो पचन-पाचन क्रिया से मुक्त तथा सर्वारम्भ-सर्व परिग्रह से विलग रहता है[२७२]।

इस सम्बन्ध में आचार्य विनोवा के विचार मननीय हैं। वे लिखते है—"दुनिया में बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मागने का अधिकार केवल सच्चे संन्यासी को है। सच्चे संन्यासी को—जो ईश्वर-भक्ति के रंग में रंगा हुआ है, ऐसे सन्यासी को ही—यह अधिकार है। क्योंकि ऊपर से देखने से भले ही ऐसा मालूम पड़ता हो कि वह कुछ नहीं करता, फिर भी अनेक दूसरी बातो से वह समाज की सेवा करता है।"

सामाजिक पहलुओं का धार्मिक रूप

भारतीय समाज प्रारंभ से ही धर्म-प्रधान रहा है। उसका सामाजिक पहलू आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत रहा है। जिस प्रकार लोकोत्तर पुरुषों ने—धर्माचार्यों ने मोक्ष-साधना के नियमों का 'धर्म' शब्द के द्वारा संग्रह किया, वैसे ही लौकिक पुरुषों ने, समाज-शास्त्रियों ने भी समाज-व्यवस्था के नियमों का 'धर्म'—शब्द से निरूपण किया। भीष्म पितामह ने कहा है—"जो मनुष्य जिसके साथ जैसा वर्ताव करे, उसके साथ वैसा वर्ताव करना धर्म-नीति है। मायावी के साथ माया और साधु पुरुष के साथ साधुता का वर्ताव करना चाहिए है[२७३]।" "आततायी को मारने में दोष नही होता[२७४]।" "जो अनार्य सामादि उपायो से सिखाये जाने पर भी न सीखें, वल्कि आततायी बनकर आयें, तो उन्हे शीघ्र ही मार देना चाहिए। उनके मारने में कोई दोप नही[२७५]।" "कहीं पर दया करना धर्म है—जैसे दीन-दुःखियों की सहायता करना; कहीं पर निर्दयता धर्म है—जैसे आक्रमणकारी को कुचल डालना[२७६]"—धर्म-सहिताओं के उक्त वाक्य समाज-व्यवस्था के ही नियमों को प्रकट करते हैं। कौटुम्बिक प्रथा भी भारतीय समाज का प्रमुख अंग रही है। उसको मजबूत बनाने के लिए भी समाज-शास्त्रियों ने विविध प्रकार के धर्मों का निर्माण किया। कुटुम्ब के मुखिया के लिए कुटुम्ब का भरण-पोषण करना, सन्तान के लिए वृद्ध माता-पिता की सेवा करना आदि-आदि अनेक ऐसे धर्म वतलाए, जिनके द्वारा यह व्यवस्था स्वस्थ रूप में चलती रहे।

दीन-दुखियो के लिए भी राज्य की या समाज की कोई सामूहिक व्यवस्था नहीं थी। इसलिए समाज-शास्त्रियों ने उनकी सहायता करना, उन्हे दान देना आदि-आदि प्रवृत्तियो को भी महान् धर्म बना डाला। दान समाज का प्रमुख अंग बन गया और वह चलते-चलते लोकोत्तर धर्म की व्यवस्था में भी घुस गया। फल यह हुआ कि हजारों परिवार, लाखो व्यक्ति भिक्षुक बन गए। समाज के सिर भार बन बैठे। 'दान' एक सामाजिक नीति थी, इसीलिए सभी ने उसे बढाया-चढ़ाया और वह खूब फैला।

आज समाज की व्यवस्था बदल गई है—पूर्ण रूप से बदल नहीं पाई है तो भी बदलना चाहती है। अब भिक्षुको को यह बताया जाता है कि श्रम किये बिना किसी के दान पर जीना, दयनीय—अनुकम्पनीय दशाएं बनाकर दूसरों के दिल में अनुकम्पा—दया के भाव पैदा कर भीख मांगना महापाप है। इस नवीन व्यवस्था में भिखमंगो को—दीन, दुःखी, असहाय और अपाङ्ग बनकर मागने वालो को जो दान देते हैं—वे समाज के घटक तथा हितकर नहीं माने जाते।

आज की समाज-व्यवस्था बताती है कि असहायो से उचित श्रम करवाकर उन्हें मजदूरी अथवा श्रम का प्रतिफल दो, भीख मत दो। बिना श्रम लेना व देना—दोनों पाप हैं। पुरानी व्यवस्था मे 'दान' का स्थान था, आज की व्यवस्था में श्रम का स्थान है। उसमें दान धर्म था, इसमें श्रम धर्म है। आखिर हैं दोनों समाज की व्यवस्थाएं। पहली में विकार आ गया, इसलिए वह टूट गई। नवीन समाज को जिसकी आवश्यकता है—उसका विकास किया जा रहा है। अपाङ्गो के लिए राजकीय व्यवस्था होती है। आज की दुनिया में वह राज्य उन्नत नहीं माना जाता, जो अपाहिजों की समुचित व्यवस्था न कर सके। जिस राज्य में भीख और दान की प्रथा है, वह आधुनिक दुनिया में पूर्ण सम्मान नही पा सकता। सचमुच जो अपाङ्ग नहीं हैं, केवल दान की प्रथा के आधार पर परम्परा के अनुसार मुफ्त का खाते हैं, उनके बारे मे महात्मा गाधी ने एक बार कहा था—"बिना प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चगे मनुष्य को मुफ्त में खाना देना मेरी अहिंसा बर्दाश्त नही कर सकती। अगर मेरा वश चले तो जहाँ मुफ्त खाना मिलता है, ऐसा प्रत्येक 'सदावर्त' या 'अन्न-क्षेत्र' मैं बन्द करा दूं।"

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि दान किस रूप में चला और आज वह किस भूमिका पर आ कर रुका है। प्राचीनतम या प्राग् ऐतिहासिक युग का वर्णन करने वाले साहित्य में मिलता है कि "न कोई याचक था और न कोई दानी।" लोक इस प्रथा से अनभिज्ञ थे। भगवान् ऋषभनाथ ने दीक्षा के पूर्व अपने गोत्रियों को दान दिया, तब से व्यावहारिक दान चला[२७७]। श्रेयांसकुमार ने भगवान् ऋषभनाथ को भिक्षा दी; तब से त्यागी, श्रमण एवं संन्यासियों को उनके संयमी जीवन-निर्वाह के लिए अपनी खाद्य-पेय-परिधेय वस्तुओं का विभाग देना—यह त्यागरूप दान चला[२७८]। ब्राह्मण-दान भी उसी समय चला[२७९]। क्रमशः ज्यों-ज्यों समाज बढता चला गया, त्यों-त्यों उसकी समस्याएं बढती गई। दीन, दुखी, अनाथ, अपाङ्ग व्यक्तियों की संख्या बढने लगी; तब पुण्य-दान और अनुकम्पा-दान की परम्पराएं चलीं, जिनके वर्णन से ऐतिहासिक युग का साहित्य भरा पड़ा है। इस युग में जैन और वैदिक दोनों के दान विषयक साहित्य में संघर्ष के बीज उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में 'पात्र और अपात्र'—इन शब्दो द्वारा यह चर्चा गया[२८०]। जैन साहित्य में 'संयति और असंयति' तथा 'पात्र, अपात्र और कुपात्र'—इस रूप में उसकी बड़ी-बड़ी चर्चाएं चलीं[२८१]। वि० १८ वीं शती के प्रारम्भ में आचार्य भिक्षु ने 'अनुकम्पा-दान' को धर्मार्थ या पुण्यार्थ मानने का प्रत्यक्ष विरोध किया। और 'वह सामाजिक सम्बन्ध है, दान है ही नहीं'—इसका प्रचार किया। आज का समाज भी उस दान-प्रथा को उठाकर उसके स्थान पर श्रम तथा सम्मानपूर्ण प्रबन्ध की व्यवस्था को प्रोत्साहन दे रहा है। यह आदि काल से आज तक की भारतीय दान-प्रथा की एक स्थूल रूप रेखा है।

धर्म, दया, दान, उपकार, आदि के लौकिक और लोकोत्तर—ये दो भेद करने का कारण है—सामाजिक और मोक्ष-धर्म का भेद समझाना। क्योंकि इन शब्दों का व्यवहार समाज और अध्यात्म, दोनो के तत्त्वों का प्रकाशन करने के लिए होता है।

भगवान् महावीर समाज के व्यवस्थापक नहीं, धर्म-मार्ग के प्रवर्तक थे[२८२]। उन्होंने सामाजिक नियमों की रचना नहीं की, आत्म-साधना के नियमों का उपदेश किया था[२८३]। उनकी दृष्टि क्षणिक दुःखों के प्रतिकार में न जाकर दुःख परम्परा के मूल का उच्छेद करने पर लगी हुई थी[२८४]। उन्होंने मुनि-धर्म और श्रावक-धर्म

का उपदेश किया[२८५]। मुनि-धर्म के पाच व्रत हैं। श्रावक-धर्म के पांच अणुव्रत हैं। श्रावक समाज में रहकर धर्म पालन करता है, इसलिए उसके कर्म जैन-दृष्टि के अनुसार तीन भागो में बंट जाते हैं :—

१ : विहित।

२ : निषिद्ध।

३ : अविहित—अनिषिद्ध।

पाच अणुव्रत मोक्ष-मार्ग के साधक हैं, इसलिए विहित हैं। जो कर्म आत्म-हित और समाज-हित, दोनों दृष्टियो से अनुचित हैं, वे निषिद्ध हैं और जो सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं, अनिवार्य हैं, उपादेय हैं—वे न तो विहित हैं और न निषिद्ध। विहित इसलिए नही कि वे मोक्ष के साधन नही हैं, निषिद्ध इसलिए नहीं कि उनके विना गृहस्थ-जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। 'निषिद्ध' को छोड़ने पर श्रावक के लिए दो प्रकार के कर्म रहते हैं—(१) विहित और (२) अविहित-अनिषिद्ध।

इसी आशय को पूर्ववर्ती आचार्यों ने लौकिक और लोकोत्तर—इन दो शब्दो द्वारा व्यक्त किया है। जो मोक्ष के लिए हो, वह लोकोत्तर और समाज-व्यवस्था के लिए हो, वह लौकिक। आज की भाषा में इन्हें क्रमशः आध्यात्मिक और सामाजिक कहा जा सकता है।

धर्म के सम्बन्ध में यदि यह कल्पना हो कि वह समाज-व्यवस्था का नियम मात्र है, तव तो समाज-शास्त्र जिसका विधान करे, वही विहित, जिसका निषेध करे, वही निषिद्ध; जिसे अच्छा माने, वही अच्छा और जिसे उपयोगी माने, वही उपयोगी होगा। और यदि धर्म के सम्बन्ध मे कुछ दूसरी मान्यता हो कि वह सामाजिक धरातल से ऊँचा है, आत्म-वाद की भित्ति पर अवस्थित है, आत्मा से परमात्मा—नर से नारायण वनने का, संसार से मोक्ष की ओर ले जाने का साधन है तो समाज के सव नियम धर्म-शास्त्र के द्वारा विहित हो ही नही सकते। जिन कार्यों में हिंसा, मोह, राग, द्वेष की परिणति होती है, वे समाज के लिए चाहे कितने ही उपयोगी, आवश्यक, अच्छे या उपादेय हो, फिर भी धर्म-शास्त्र उनका विधान नहीं कर सकते।

लौकिक अलौकिक

चिन्तन एक द्रुतगामिनी धारा है, जिसमें उर्मियो के उतार-चढ़ाव होते हैं। उर्मि ऊपर उठती है तब ऊर्ध्व गमन की कल्पना होती है, वह नीचे आती है तब निम्न-गमन की कल्पना होती है। देखने वाला कह सकता है—यह असंगति है। पर जल-धारा को यह कैसे मान्य होगा? वह विसंगति नहीं, किन्तु गति का क्रम है। ऐसा क्रम सबमें होता है। जीवन में जो नानात्व है, वह विसंगति नहीं है। हमारा जीवन अनेक विरोधी तत्त्वों का सहज सामञ्जस्य है। वह लौकिक भी है और अलौकिक भी है। यदि वह लौकिक ही हो तो अलौकिकता की कल्पना व्यर्थ होगी और यदि वह अलौकिक ही हो तो उसे लौकिक मानने का कोई अर्थ नहीं होगा।

शरीर लौकिक है, इसलिए शरीर-प्रधान-दृष्टि को हम लौकिक जीवन कहते हैं। आत्मा अलौकिक है, इसलिए आत्म-प्रधान-दृष्टिकोण को हम अलौकिक या आध्यात्मिक जीवन कहते हैं। इसी तथ्य के आधार पर हम जीवन को दो दृष्टियो से देखते हैं। यह जीवन का बँटवारा नहीं है, यह उसकी गति-विधियों का बँटवारा है। धर्म हमारे शरीर की आवश्यकता नही है। शरीर को आवश्यकता है—भोजन की, पानी की और पदार्थों की। वह स्वयं पदार्थ है और पदार्थ तक ही उसकी गति है। धर्म की आवश्यकता है आत्मा को। जिन्हें आत्मा में आस्था है, उनके लिए धर्म का मूल्य सर्वोपरि है। जिन्हें आत्मा में विश्वास नही, उनके लिए धर्म उतना ही मूल्यहीन है, जितना कि एक आध्यात्मिक के लिए पदार्थ। धार्मिक व्यक्ति भी पदार्थ का उपयोग किए विना नहीं जी सकते, पर उनकी दृष्टि में उसका कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं होता। अनात्मवादी भी धर्म के सामान्य नियमों का अनुगमन करते हैं, पर उनका लक्ष्य धर्म के द्वारा आत्मा को मुक्त करने का नही होता।

इस समय हमारे सामने तीन दृष्टिकोण हैं। कुछ लोग धर्म को स्वीकार ही नही करते। उनके कर्तव्य-निर्णय के माध्यम देश, काल और परिस्थिति होते हैं। कुछ लोग धर्म को स्वीकार करते हैं और समाज की हर आवश्यक सेवा को धर्म मान कर्तव्य और धर्म को एक ही मानते हैं। कुछ लोग धर्म को स्वीकार करते हुए भी समाज का आत्म-विकास करने वाली सेवा को ही धर्म मानते हैं। वे धर्म और कर्तव्य को सर्वथा एक नहीं मानते। सामाजिक अभ्युदय की दृष्टि से पहला विकल्प जितना

सरल है, उतना दूसरा या तीसरा नहीं है। तीसरा इसलिए सरल नही है कि वह धर्म को समाज के अभ्युदय का प्रमुख साधन नही मानता, दूसरा इसलिए नही कि वह समाज के अभ्युदय को प्रधानता देता है और उसका साधन बनाता है—मोक्ष के हेतुभूत धर्म को। वह जिस साध्य की प्राप्ति के लिए धर्म है, उसे गौण करता है और जो साध्य गौण है, उसे प्रधान बनाता है।

समाज के अभ्युदय के लिए जितना महत्त्व अर्थ-नीति और व्यवस्था का है, उतना धर्म का नही है और समाज-विकास के लिए जितना महत्त्व धर्म का है उतना अर्थ नीति और व्यवस्था का नहीं है। अभ्युदय से हमारा अभिप्राय है—भौतिक प्रगति और विकास से हमारा अभिप्राय है—चारित्रिक प्रगति। समाज का भौतिक सस्थान अर्थ से आगे बढ़ता है। धर्म का उससे यदि कोई सम्बन्ध है तो वह इतना ही है कि उसका अर्थ-नीति पर अंकुश रहे, उसे विकृत न होने दे। समाज का चारित्रिक विकास धर्म से होता है। अर्थ का उससे यदि कोई सम्बन्ध है तो वह इतना ही है कि परिष्कृत अर्थ-नीति मे धर्म को विकसित होने में बाह्य परिस्थिति-जनित कठिनाई का सामना नही करना पड़ता। अभ्युदय और विकास को एक मानने पर इधर धार्मिक जटिलताएं बढ़ी तो उधर समाज-व्यवस्था भी जटिल बनी। इसीलिए समय-समय पर समाज के प्रमुखों और चिन्तकों को कहना पड़ा—धर्म और समाज-व्यवस्था का मिश्रण न किया जाए।

डा० ताराचन्द ने अपने रेडियो भाषण में कहा—"जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध आध्यात्मिक अनुभव से और सत्य, त्याग जैसे शाश्वत सिद्धान्तो से है, वहाँ तक इसके बारे में कोई झगड़े की गुंजाइश नही। अर्थ और राजनीति से इसका सम्बन्ध जोड़ना उचित नही। क्योंकि ये बातें देश-काल के अनुसार बदलती रहती हैं। यदि इनमें परिवर्तन का विरोध किया जाय तो समाज गतिहीन और जड़ हो जाता है। इसलिए समाज या राजनीति के सामयिक परिवर्तनो को धर्म में परिवर्तन नही समझना चाहिए। आज के युग में इहलौकिक और पारलौकिक विषयों को अलग रखना ही ठीक है।"

दैनिक 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक ने इनके भाषण का सारांश इन शब्दों में दिया है—"आकाशवाणी दिल्ली से ६ अगस्त १६५८ को राष्ट्रीय कार्यक्रम में डा० ताराचन्द ने 'धर्म और राजनीति' विषय पर अंग्रेजी में भाषण किया। उन्होंने कहा—धर्म

का जो आध्यात्मिक रूप है वह नही बदलता, न उसके बारे में कोई विवाद होना चाहिए, पर धर्म का जो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक रूप है, उसमें जमाने के साथ परिवर्तन जरूर होता है। इस परिवर्तन का अर्थ धर्म में परिवर्तन या हस्तक्षेप न समझा जाना चाहिए। उचित यह है कि आध्यात्मिक बातों में राज्यका हस्तक्षेप न हो और राजनीतिक या सामाजिक विषयों में धर्म दखल न दे।"

धर्म क्यों ?

अनात्मवादी धर्म को नही मानते। वे नीति को स्वीकार करते हैं और उसके उद्देश्य में वे स्पष्ट हैं। उनके अभिमत में—"नीति एक सामाजिक आवश्यकता है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" बस, यही विचार नीति का समर्थन करने के लिए पर्याप्त है[२८६]।

आहार, श्वासोच्छ्वास, इन्द्रियां, भाषा और मन—ये न आत्मा के धर्म हैं और न पुद्गल के। ये संयोगज हैं—आत्मा और शरीर दोनो के संयोग से उत्पन्न होते हैं।

भूख न आत्मा को लगती है और न शरीर को। भोग की इच्छा न आत्मा में होती है और न शरीर में। आत्मा और शरीर का योग जीवन है। जीवन में भूख भी है और भोग भी है। ये व्यक्ति के निजी धर्म हैं। इनकी पूर्ति कभी वैयक्तिक प्रणाली से होती होगी पर जब से समाज बना, शासन का उदय हुआ तब से इनकी पूर्ति सामाजिक प्रणाली से होती हैं। सामाजिक दायित्व क्रमशः विकसित हुआ है।

साधन अधिक होते हैं और उपभोक्ता कम, तब भूख और भोग समस्या नही बनते। साधन कम होते हैं और उपभोक्ता अधिक, तब वे समस्या बन जाते है, साधन पर्याप्त होने पर भी यदि संग्रह की वृत्ति अधिक होती है तो वे समस्या बन जाते हैं। आज सचमुच वे समस्या बने हुए हैं—प्रायः सभी जगह, विशेष रूप से उन देशों में, जो अविकसित या अल्प विकसित हैं। आज के शासन तंत्र इनके समाधान में अनवरत लगे हुए हैं। भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रणालियों का विकास इसी उद्देश्य से हुआ है। सामाजिक समस्या के समाधान के लिए समाज की विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग और विकास हो—यह समझ में आने जैसा है।

इन दिनो एक नया विचार सामने आ रहा है, उसका संकेत है कि भूख और

भोग की समस्या के समाधान में धर्म का योग होना चाहिए। भूखे लोगो की उपेक्षा कर, उनकी ओर ध्यान न देकर जो धर्म चलता है वह क्या धर्म है?

लाखो आदमी भूख की समस्या से चिंतित हैं, उस दशा में धार्मिक लोग धर्म का उपदेश दें, उसका क्या अर्थ हो सकता है, जब तक वे भूखो की भूख मिटाने का यत्न न करें।

यह विचार कोई सर्वथा नया नही है। नया मैने इसलिए कहा है, कुछ जन-सेवक इसकी चर्चा आजकल अधिक करते हैं। जो बुद्धिवादी या समाज-विज्ञान की दृष्टि से सोचने वाले हैं—वे इस विचार को अधिक महत्त्व नहीं देते। उसके पीछे एक निश्चित धारणा है और वह यथार्थ है। हम भावावेग से मुक्त होकर देखें तो यह स्पष्ट दीखेगा कि समाज की समस्या का समाधान सामाजिक व्यवस्था के समयोचित परिवर्तन से जितना सुलभ होता है, उतना दूसरे प्रकारो से नहीं।

जीवन की भौतिक समस्याओं का समाधान यदि धर्म के पास हो और यदि धर्म का उद्देश्य उनकी पूर्ति करना हो तो उसे समाज-व्यवस्था से अधिक मूल्य नही दिया जा सकता। भौतिक और आत्मिक—ये दो भिन्न कोटि के अस्तित्व-क्रम हैं। भौतिक अस्तित्व-क्रम सामयिक है और आत्मिक अस्तित्व-क्रम त्रैकालिक। सामयिक व्यवस्था के साथ त्रैकालिक तत्त्व की संगति नहीं बिठाई जा सकती। ये दो भिन्न दिशाए हैं—एक बन्धन है और एक मुक्ति। भौतिक जगत् आत्मिक अस्तित्व को मिथ्या या प्राप्त मानता है और आत्मिक जगत् भौतिक उपभोग को बन्धन कारक मानता है।

यद्यपि एक ही व्यक्ति भौतिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार का जीवन जी सकता है, जीता है, किन्तु एक ही साथ दोनो प्रकार के जीवन नही जिये जा सकते, तात्पर्य की भाषा में एक ही क्रिया के द्वारा दोनो की आराधना नही की जा सकती। भौतिक पदार्थों का प्रयोग किए बिना कोई भी देहधारी नही जी सकता—यह जितना सच है उतना ही सच यह है कि पुद्गल और आत्मा मे स्वरूप-कृत विरोध होता है, क्रियात्मक विरोध नही है। पौद्गलिक पदार्थ धार्मिक के लिए साधक या बाधक कुछ भी नही हैं। वे अपने स्वरूप में हैं, आत्मा अपने स्वरूप मे है।

विरोध या असंगति इनके संयोग की उपज है। आत्मा पुद्गलों के सम्पर्क में आ जब उनमें मूर्च्छित हो जाती है—उनकी उपलब्धि के लिए अपने अस्तित्व के

प्रतिकूल कार्य करती है तब उनमें विरोधी योग बनता है। उस स्थिति में सूक्ष्म पुद्गल आत्मा से चिपट जाते हैं। उनकी प्रतिक्रिया आत्म-हित के प्रतिकूल होती है। वे चैतन्य को आवृत्त करते हैं। इसीलिए धर्म के मनीषियों ने कहा—मूर्च्छा से बचो; मूर्च्छा से बचने के लिए पौद्गलिक पदार्थों के सम्पर्क से बचो। आवश्यकता को भी अनिवार्यता की कोटि में ले आओ। अनावश्यक मत लो और आवश्यक भी वह लो, जो अनिवार्य हो। पदार्थ भले हों, आसक्ति न हो—यह सिद्धान्त जितना सरल है, उतना ही कठिन इसका आचरण है। पदार्थ को त्यागे बिना आसक्ति को त्याग सके—यह सामान्य क्रम नहीं है। अपवाद में कुछ उदाहरण मिलते हैं, उन्हें सामान्य सिद्धान्त के रूप में व्यवहृत नहीं किया जा सकता।

लगभग सभी धर्म-प्रवर्तकों ने कहा—भोग छोड़ो, त्याग करो। त्याग हमारे आध्यात्मिक विकास का सर्वोपरि मन्त्र है। त्याग को केवल निषेधात्मक कहने वाले इस तथ्य को भुला देते हैं कि आध्यात्मिक जगत् में आत्मा के लिए उपादेय कुछ भी नहीं है। आत्मा अपने आप में पूर्ण है। उसकी पूर्णता हेय पदार्थ सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ से तिरोहित रहती है। वह आत्मा का स्पर्श तभी कर सकता है जब आत्मा का उसमें लगाव होता है। त्याग का अर्थ है—उसमें आत्मा का लगाव न रहे, नए सिरे से वह आत्मा का स्पर्श न करे। हेय अंश का त्याग होता है, इसका अर्थ है—उपादेय अंश का विकास होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा का विकास होता है। काण्ट ने कहा—नैतिक उच्चता के साथ सुख का साहचर्य होना चाहिए। त्याग संयम है, नैतिक उच्चता है। आनन्द आत्मा का सहज स्वरूप है। जब हेय अंश की निवृत्ति होती है, तब आनन्द का अखण्ड स्रोत फूट पड़ता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है—यह चिरपोषित मान्यता है। समाज की यह अपेक्षा है कि मनुष्य एक निश्चित सीमा तक त्याग या आत्म-नियन्त्रण करे। इसमें धर्म के प्रति आस्था रखने या न रखने का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह सर्व सामान्य भूमिका है। मुमुक्षु लोग समाज की अपेक्षा को सामने रखकर आत्म-नियन्त्रण नहीं करते। वे आत्मा को उर्ध्व गामी बनाने के लिए वैसा करते हैं। सामाजिक प्राणी में प्राणैषणा, विषयैषणा और सुतैषणा होती है। वह उनके लिए कामना भी करता है, पर यह धर्म की उपासना नही है।

धर्म का अनुष्ठान आत्मा के अस्तित्व पर आधारित है[२८७]। भगवान् महावीर ने कहा—

(१) "इह लोक के लिए धर्म मत करो,

(२) परलोक के लिए धर्म मत करो,

(३) पूजा श्लाघा के लिए धर्म मत करो,

(४) केवल आत्म-शुद्धि के लिए धर्म करो [२८८]।"

भौतिक सुख-सुविधा के लिए धर्म करने का सिद्धान्त तब बना होगा, जब वह जनता के लिए दुष्प्राप्य थी। समाज-व्यवस्था के द्वारा जब वह सुप्राप्य हो गई, तब उसके लिए समाज-व्यवस्था के अतिरिक्त धर्म की आवश्यकता नहीं रही। इसी प्रकार जिन-जिन अगम्य और दुष्प्राप्य पदार्थों की उपलब्धि के लिए मनुष्य इच्छुक थे, उन्ही के लिए धर्म करते गए। पर यह यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं है। पदार्थ सुप्राप्य जो बने हैं, वे धर्म के द्वारा नही बने हैं।

आत्मा भौतिक पदार्थ नही है, जो किसी समाज-व्यवस्था द्वारा उपलब्ध किया जा सके। वह इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे है। उसकी उपलब्धि के लिए इनकी स्थिरता अपेक्षित है। ध्यान और साधना की पद्धति का विकास इसी निमित्त से हुआ है।

मन, वाणी और शरीर की चञ्चलता जितनी अधिक मिटती है, उतनी ही अधिक उसकी उपलब्धि होती है। पदार्थ की प्राप्ति के लिए भी स्थिरता की ससीम साधना करनी होती है, किन्तु उसकी असीम साधना केवल आत्मोपलब्धि के लिए ही की जाती है। अनात्मवादी का चरम तत्त्व दृश्य जगत् से आगे नहीं है। आत्मवादी का चरम तत्त्व दृश्य ही नही है। दृश्य की आराधना दोनों के लिए आवश्यक है और उसका निर्देशन समाज-शास्त्र से मिलता है। अदृश्य जगत् की आराधना केवल आत्मवादी के लिए है, इसीलिए वह धर्म का आचरण करता है। इन्द्र ने राजर्षि नाभि से कहा—पार्थिव ! आश्चर्य है कि तुम प्राप्त भोगों का त्याग करते हो ? और अप्राप्त भोगो की प्रार्थना करते हो ? किन्तु इससे तुम्हें पछताना होगा।

राजर्षि ने कहा—"ये काम भोग शल्य हैं, विष हैं, आशीविष सर्प के समान भयंकर हैं। जो इनकी प्रार्थना करता है, वह काम-भोगों को भोगे बिना भी दुर्गति में जाता है[२८९]।

विरक्त आत्मा की मोक्ष मे जो आस्था होती है, उसे अनुरक्त आदमी नही पकड़ सकता और अनुरक्त की पदार्थों मे जो आस्था होती है, उसे एक विरक्त आदमी नहीं समझ सकता। किन्तु यह स्पष्ट है कि भोग के लिए यदि धर्म हो तो उसका वास्तविक उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है और धर्म से यदि भोग मिलते हों तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता हैं।

भृगु पुरोहित ने कहा—पुत्रो! जिसके लिए लोग तप करते हैं, वे सब धन, स्त्रियां, स्वजन और काम-भोग तुम्हे प्राप्त हैं, फिर किसलिए तुम मुनि बनना चाहते हो?

पुत्रो ने कहा—पिता! धर्म की आराधना करने में धन, स्वजन और काम-भोगोंका क्या प्रयोजन? [२१०]

धन से भौतिक जीवन को सुखद बनाया जा सकता है, अपनी या पराई कठिनाइयों को मिटाया जा सकता है। विषमता से उत्पन्न दौर्मनस्य का अन्त किया जा सकता है, किन्तु धर्माराधना के लिए उसका कोई प्रत्यक्ष उपयोग नही है। परोक्ष-सहायता की बात दूसरी है। भौतिक स्थिति कहीं आत्मिक विकास की और आत्मिक स्थिति कहीं भौतिक विकास की परोक्ष सहायक हो सकती हैं।

प्रश्न अभी शेष है कि जो अविकसित जातिया हैं, जिनके सामने भूख, व्याधि आदि अनेक समस्याएं हैं, उनकी सेवा में जो न लगे, दरिद्र नारायण की उपासना न करे, गरीबी मिटाने का यत्न न करे, उसकी धर्म-साधना कैसी है? यह करुणा का मनोभाव है। पुरानी समाज-व्यवस्था में करुणा का विशेष महत्त्व रहा है। समर्थ लोग हीन-दीन जनों पर दया दिखाए—इस करुणा धर्म को मान्यता मिलती रही है। वर्तमान युग अधिकार जागरण का युग है। इसमें करुणा को महत्त्व नहीं दिया जाता। अविकसित जातियों का विकास करना, गरीबी को मिटाना, सब को भौतिक विकास का समान अवसर देना, आज की समाज-व्यवस्था के प्रधान अंग हैं। इन समस्याओं को धर्म के द्वारा कैसे सुलझाया जा सकता है, भौतिक विकास में धर्म कहाँ तक साथ दे सकता है? यह गंभीरता पूर्वक विचार करने योग्य है। यह निश्चित है कि समाज में अविकसित और विकसित का भेद रहा, एक पक्ष में गरीबी और दूसरे पक्ष में बहुलता रही, तो क्रूरता बढ़ेगी, घृणा फैलेगी और हिंसक क्रान्ति की संभावना सुदृढ़ हो जाएगी। इस परिस्थिति को सुलझाने के लिए अविकसित जातियों को भौतिक साधनों से सम्पन्न करने का जो यत्न किया जाता है, उसका

स्वरूप भले ही आध्यात्मिक न हो, परन्तु परिस्थिति से उत्पन्न हिंसा की उत्तेजना को रोकने की दिशा में वह महत्त्वपूर्ण कदम है।

भौतिक विकास का समाज-व्यवस्था की दृष्टि से, आत्मिक विकास का आध्यात्मिक दृष्टि से मूल्य आंका जाए तो उनके स्वतन्त्र अस्तित्वों का हनन भी नहीं होता और किसी अनात्मवादी या आत्मवादी के सामने कोई समस्या भी उपस्थित नहीं होती।

धर्म की उत्पत्ति भय, दुःख आदि निमित्तों से नहीं हुई है, उसका निमित्त आत्मा का विकास, मुक्ति या पूर्णता की उपलब्धि है।

जिनका दृष्टिकोण न पूरा सामाजिक है और न पूरा आध्यात्मिक है, वे न केवल समाज के अभ्युदय के लिए ही नीति को स्वीकार करते हैं और न विकास के लिए ही धर्म को। वे अभ्युदय और विकास दोनों के लिए धर्म का सहारा लेना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि न नीति सफल होती है और न धर्म, न अभ्युदय होता है और न विकास। कोई भी सामाजिक व्यक्ति अभ्युदय और नीति की तब तक उपेक्षा नहीं कर सकता, जब तक वह सामाजिक जीवन जीता है, किन्तु विकासकी भावना उद्बुद्ध होने के कारण वह धर्म की आराधना भी करता है। यह अभ्युदय और विकास, नीति और धर्म के प्रति सामजस्यपूर्ण दृष्टिकोण है।

धर्म क्या है ?

धर्म शब्द अपने आप में उलझन भरा है। वह अभ्युदय के हेतुभूत विधि-विधानों व मोक्ष के साधनों तथा और भी अनेक अर्थों का वाचक है। अधिक उलझन का कारण भी यही है। यदि धर्म शब्द मोक्ष के साधनों का ही वाचक होता तो सम्भवतः इतनी उलझनें नहीं बढ़तीं। अपने आपको सुधारक या क्रान्तदर्शी मानने वाले भी अपनी हर सामाजिक प्रवृत्ति को धर्म का रूप देने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहे हैं—यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। अभ्युदय और विकास में कोई अन्तर ही न हो, नीति और धर्म एक ही हो तो धर्म को अभ्युदय की भूमिका से आगे ले जाने का अर्थ ही क्या है ? समाज-नीति से पृथक् उसके अस्तित्व का स्वीकार ही क्यों ? धर्म का स्वीकार इसीलिए तो है कि उसका साध्य अभ्युदय से भिन्न है। धर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व इसीलिए तो है कि उसका स्वरूप नीति से भिन्न है।

नीति से हमारा अभिप्राय है जीवन-यापन की व्यवस्थित पद्धति, अभ्युदयकारक व्यवस्था। इसका स्वरूप धर्म से इसलिए भिन्न है कि धर्म का आदि, मध्य या अन्त जो कुछ भी है वह अहिंसा है और नीति के सामने सर्वोपरि प्रश्न होता है—सामाजिक जीवन की उपयोगिता। सामाजिक उपयोगिता के लिए हिंसा आवश्यक हो तो वह नीति को मान्य हो सकती है, होती है, पर धर्म को वह मान्य नहीं हो सकती। खेती सामाजिक जीवन की अपेक्षा है, इसलिए वह हिंसा होते हुए भी नीति द्वारा सम्मत है। धर्म-सम्मत इसलिए नहीं कि वह हिंसा है, भले फिर वह अनिवार्य हो। एक दिन मोक्षार्थी को उससे मुक्त होना होता है, जैसा कि महात्मा गांधी ने लिखा है—"खेती इत्यादि आवश्यक कर्म शरीर-व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है और मनुष्य ज्ञान और भक्ति के द्वारा अन्त में इन अनिवार्य दोषों से मोक्ष प्राप्त करके इस हिंसा से भी मुक्त हो जाता है[२९१]"—दूसरी जगह वे इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार करते हैं—"यह बात सच है कि खेती में सूक्ष्म जीवों की अपार हिंसा है[२९२]।" धर्म की भूमिका पर चिन्तन करने वाले प्रायः सभी धर्माचार्यों ने कृषि को अहिंसा—धर्म नहीं माना है। बड़ा आश्चर्य तो यह है कि राजनीति की कसौटी पर धर्म को परखा जाता है। धर्म मोक्ष की कसौटी पर ही खरा उतर सकता है, राजनीति की कसौटी पर नहीं। धर्म की चर्चा निर्विकल्प-समाधि, जीवन-मुक्ति, पूर्ण संवर, पूर्ण अक्रिया और शरीर-मुक्ति तक चली जाती है, पर राजनीति इसे कब मान्य करेगी। आखिर हमें अपनी-अपनी सीमा के विधि-निषेधों का ध्यान रखना चाहिए। धर्म के विधि निषेधों को राजनीति या समाज-नीति की दृष्टि से तौलें और उनके विधि-निषेधों को धर्म की दृष्टि से तौलें तो उनमें पूर्ण सामंजस्य कैसे होगा? आत्म-विकास के जो उपादान हैं, वे धर्म हैं। आत्म-स्थिति ही धर्म है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

जब से मोक्ष की मान्यता चली है तब से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति की चर्चा भी चल रही है। कुछ लोग प्रवृत्ति को अधिक महत्त्व देते हैं और कुछ लोग निवृत्ति को। सच तो यह है कि जीवन-काल में प्रवृत्ति को छोड़ा ही नहीं जा सकता और मोक्ष के लिए निवृत्ति की भी उपेक्षा नही की जा सकती। जैन मुनि के लिए पांच

समितियां प्रवृत्त्यात्मक धर्म है और तीन गुप्तिया निवृत्त्यात्मक धर्म है[२९३]। कहा जाता है तेरापन्थ प्रवृत्ति को धर्म नहीं मानता—इसमें पूरी सचाई नहीं है। धर्म दो प्रकार के हैं—संवर और निर्जरा। इनमे निर्जरा प्रवृत्त्यात्मक धर्म है। अनागत कर्म-परमाणुओं का निरोध संवर से होता है और संचित कर्म-परमाणुओं का विनाश निर्जरा से होता है। ये निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो मिलकर मोक्ष की प्रक्रिया को पूर्ण बनाते हैं। केवल निवृत्ति से भी मोक्ष नही होता और वह केवल प्रवृत्ति से भी नहीं होता। तेरापन्थ के अनुसार निवृत्ति से परिष्कृत प्रवृत्ति धर्म है। असयममय प्रवृत्ति धर्म नहीं है। प्रेम, आत्मौपम्य, सत्य-वचन, संतोष और त्याग—ये धर्म हैं। प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी की निम्न पंक्तियों का अभिमत तेरापन्थ को कब अमान्य रहा है? वे पंक्तिया ये हैं—"जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतो को धारण करने की शक्ति नही रखता उसके लिए जैन परम्परा में अणुव्रतो की सृष्टि करके धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर आगे बढ़ने का मार्ग भी रखा है। ऐसे गृहस्थों के लिए हिंसा आदि दोषों से अंशतः बचने का विधान किया है। उसका मतलब यही है कि गृहस्थ पहले दोषो से बचने का अभ्यास करें। पर साथ ही यह आदेश है कि जिस-जिस दोष को वे दूर करें, उस-उस दोष के विरोधी सद्गुणो को जीवन में स्थान देते जाएं। हिंसा कों दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सद्गुणों को जीवन में व्यक्त करना होगा। सत्य बिना बोले और सत्य बोलने का बल बिना पाए असत्य से निवृत्ति कैसे होगी? परिग्रह और लोभ से बचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी गुण-पोषक प्रवृत्तियों में अपने आपको खपाना होगा[२९४]।" परन्तु उनकी वे पंक्तिया जिनकी रचना इन शब्दों में है—"दान का निषेध सार्वजनिक हित प्रवृत्ति का निषेध इतना ही नहीं, जीव-दया पालन का भी निषेध, यह हुई तेरापन्थ की निवृत्ति[२९५]"—चिन्तन की गहराई लिए हुए नहीं हैं। तेरापन्थ की मान्यता का यह वैसा ही चित्रण है जैसा कि स्याद्वाद का निरसन करते समय शंकराचार्य ने किया है। दान सग्रह का आवरण है—इस ऐतिहासिक तथ्य को पंडितजी जैसे मनीषी व्यक्ति दृष्टि से ओझल कर देते हैं—यह आश्चर्य की बात है। क्या जैन आगम साहित्य में असंयति-दान को धर्म माना है? [२९६] "असंयति को दान देकर जो पुण्य-फल की इच्छा करता है, वह जलती हुई अग्नि में बीज बोकर अनाज पाना चाहता है[२९७]।" क्या यह आचार्य अमितगति की वाणी नहीं है? कन्या-दान, गो-दान, भूमि-दान आदि को धर्म की

कोटि में मानने से इन्कार नही किया है[२९८] ? यदि यह है तो फिर "तेरापंथ दान का निषेध करता है"—इस उक्ति के पीछे रहस्य क्या है ? किसी कार्य को धर्म न मानना और उसका निषेध करना—ये दोनो एक तो नही हैं। तेरापंथी लोग असंयति-दान को मोक्ष-धर्म नहीं मानते—यह दान का निषेध कैसे ? तत्त्व-चिन्तन की भूमिका में महात्मा गाधी ने माना कि खेती में हिंसा है, पर खेती में हिंसा मानने का अर्थ उसका निषेध कैसे होगा ? आवश्यक कार्यों का निषेध नही किया जा सकता—यह जितना सच हैं उतना ही सच यह भी है कि आवश्यक होने के कारण हिंसा को अहिंसा और असंयम को मोक्ष-धर्म नही माना जा सकता।

कृषि में हिंसा है, खाने में भी हिंसा है, जीवन चलाने में भी हिंसा है। जो हिंसा है वह है। उसे स्वीकार करने का अर्थ है—तथ्य का स्वीकार। मनुस्मृतिकार ने लिखा है—"गृहस्थ के घर पाँच वध-स्थान हैं—चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली और जल का घर[२९९]"। यह तथ्य की स्वीकृति है। इसका अर्थ निषेध कैसे होगा ? जीवन की आवश्यकताओ व सामाजिक अपेक्षाओं का निषेध किया भी कैसे जा सकता है ?

विनोवाजी ने लिखा है—"कुछ जैन वन्धु तो खेती करना पाप मानते हैं। खेती के काम से जन्तुओं की हिंसा होती है। पर वह हिंसा लाचारी की हिंसा है। शरीर के साथ-साथ कुछ न कुछ हिंसा जुड़ी हुई है, इसलिए उससे वचकर आप नही रह सकते। धान्य उत्पादन करने में हिंसा होती है, तो क्या धान्य का व्यापार करने में हिंसा नहीं होती ? खाना पैदा करने में पाप है, तो क्या खाना खाना पाप नहीं है[३००] ?" इसमें तथ्यों का विश्लेषण है। यह सत्य है—हिंसा धान्य उत्पन्न करने मे भी होती है और उसके व्यापार में भी। वह खाना पैदा करने में भी होती है और खाने में भी। पर जैन-दृष्टि से इसका फलित यह नहीं कि खेती मत करो, व्यापार मत करो या मत खाओ। आनन्द श्रावक भगवान् महावीर का प्रधान उपासक था। उसके बहुत बड़ी खेती थी। वह किसान भी था और बारह व्रती श्रावक भी। खेती हिंसक धन्धा है और व्याज का धन्धा या व्यापार हिंसक धन्धा नहीं है—ऐसा गलत विचार भी कुछ लोगों में दृढ़मूल बना, पर यह वास्तविक नहीं है। महापुराण में व्याज को आर्त-ध्यान माना है—महाहिंसा का हेतु माना है। वर्तमान के अधिकांश जैनी खेती नही करते, इसका कारण अहिंसा-दृष्टि नहीं है।

उसका कारण है—सुविधावाद, ऐश्वर्य और आरामपरता। कुछ स्थानो के, जैसे कच्छ में जैन बन्धु अभी भी खेतीहर हैं। १६ वीं शताब्दी में राजस्थान में भी बहुत जैनी खेती करते थे। जो लोग आज लखपती या करोड़पती हैं, उनके बाप-दादा किसान भी थे। जैन धर्म की अहिंसा का खेती से विरोध कहाँ है? आचार्य भिक्षु ने श्रावक के बारह व्रतों की विवेचना की है। उसमें उन्होंने श्रावक को खेतिहर के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रावक गुरु के पास आता है और बारह व्रतों को स्वीकार करने की प्रार्थना करता है। पहला व्रत अहिंसा है। उसे स्वीकार करते समय वह कहता है—"प्रभो! पहले व्रत में हिंसा का प्रत्याख्यान होता है। हिंसा दो प्रकार की है—त्रस जीवों की हिंसा और स्थावर जीवों की हिंसा। स्थावर जीवो की हिंसा न करूँ तो पेट नही भरता, इसलिए मैं त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता हूँ और स्थावर जीवों की हिंसा का परिमाण करता हूँ। एक बात और है—मैं इतना सहिष्णु नही हूँ कि अपराधी को क्षमा कर सकूँ। मैं उन्ही त्रस जीवो को नहीं मारूँगा जो अपराधी नही हैं। अहिंसा में सावधानी की बहुत आवश्यकता है, मैं इतना सावधान नही हूँ। मैं धान तौलता हूँ, गाड़ी पर चढ़कर गावो मे जाता हूँ, खेती करता हूँ, वहाँ बहुत जीव मर जाते हैं, इसलिए मैं वहाँ सकल्प पूर्वक त्रस जीवों को मारने का प्रत्याख्यान करता हूँ[301]।"

यह प्रसंग आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण पर भी प्रकाश डालता है। उनका दृष्टिकोण यही था कि हिंसा को, भले फिर वह अनिवार्य हो, अहिंसा न माना जाए। जो अहिंसा नही है, उसे मोक्ष-धर्म की बुद्धि से न किया जाए। सामाजिक प्राणी समाज की आवश्यकताओं को पूरा न करे—यह प्रतिपाद्य न उनका था और न किसी भी तेरापंथ के आचार्य का कभी रहा है।

कृषि जो समाज की आवश्यकता है

जहाँ देह है वहाँ आहार है। जहाँ आहार है वहाँ प्रयत्न है। जहाँ प्रयत्न है वहाँ सहयोग है। समाज और क्या है? सहयोग का विनिमय ही तो समाज है। समाज आंकिक नही होता वह गुण-मात्रिक होता है। इसीलिए समाज की जो आवश्यकता है, वह व्यक्ति की आवश्यकता है और जो व्यक्ति की आवश्यकता है, वह समाज की आवश्यकता है। कृषि समाज की आवश्यकता है, जब मनुष्यों के लिए

वृक्षज आहार पर्याप्त नही रहा तब वे अन्नाहारी बनें। जैन साहित्य के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा के हित के लिए कृषि का उपदेश दिया[३०२]।

कृषि समाज के निर्वाह और अभ्युदय का हेतु है, इसलिए यह प्रजा के लिए हितकर है[३०३]।

प्रजा के लिए कृषि जितनी हितकर है, उतना ही हितकर वाणिज्य है। आयात-निर्यात के बिना आवश्यकता पूर्ण नहीं हो सकती। समाज के लिए कृषि भी हितकर है, वाणिज्य भी हितकर है, और भी अनेक कार्य हितकर हो सकते हैं। हिंसा भी समाज के लिए हितकर है। सुरक्षा के साधन और शस्त्रास्त्र भी उसके लिए हितकर हैं। एक शब्द में समाज के लिए जो आवश्यक है वह सब हितकर है। समाज का हित निर्वाह की सामग्री उत्पन्न करने में है—और अभ्युदय करने में है—पदार्थों का विकास करने में है। इस रेखा तक सम्भवतः मतद्वैध नही है। एक अनात्मवादी भी—जिसके लिए अहिंसा नीति हो सकती है, धर्म नहीं—समाज का अभ्युदय चाहता है और उसके निर्वाह की साधन-सामग्री को उत्पन्न करना चाहता है। एक आत्मवादी भी वैसा ही चाहता है, जिसके लिए अहिंसा का मूल नीति से बढ़कर होता है। सामाजिक हित का जहाँ प्रश्न है वहाँ एक आत्मवादी और अनात्मवादी दोनो का धरातल एक है। किन्तु आत्म-हित का प्रश्न अनात्मवादी के लिए नगण्य है और आत्मवादी के लिए वह महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा आत्मवादी के लिए धर्म है। इसलिए वह जिस प्रकार समाज-हित की दृष्टि से सोचता है, उसी प्रकार हिंसा और अहिंसा की दृष्टि से भी सोचता है। जिससे समाज का हित सधता है—निर्वाह और अभ्युदय होता है, वह सारी प्रवृत्ति अहिंसा है—यह कैसे माना जाए? यदि यह माना जाए तो इसका निष्कर्ष होगा कि जो समाज के लिए आवश्यक है, वह अहिंसा है और जो अनावश्यक है, वह हिंसा है।

भगवान् ऋषभदेव ने जनता की आवश्यकता को समझ कृषि का उपदेश दिया पर उसे अहिंसा नही कहा। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—"ये सब कृषि, वाणिज्य आदि कार्य सावद्य हैं—हिंसा के दोष से युक्त हैं, फिर भी स्वामी (ऋषभदेव) ने लोकानुकम्पा से प्रेरित होकर इनका प्रवर्तन किया क्योंकि राजा होने के नाते ऐसा करना वे अपना कर्तव्य मानते थे[३०४]।" आवश्यक होने मात्र से हिंसा अहिंसा नहीं बन जाती। जो हिंसा है, वह पाप है। पाप का एक अर्थ होता है—निन्दनीय आचरण।

इसलिए यह चर्चा होना अस्वाभाविक भी नहीं है। इस विषय की चर्चा भारत से बाहर भी हुई है। अमरीकी वैज्ञानिक डाक्टर अलेक्जेण्डर एफस्कच ने 'खेत में अहिंसा' शीर्षक अपने लिखित भाषण में अहिंसा के बारे में कई प्रश्न उपस्थित किए हैं।

उन्होंने लिखा है—"पृथ्वी से अन्न को उपजाने अर्थात् खेती करने का—सर्वोपरि अहिंसा पालन के संग मेल नहीं खाता है। खेती में निश्चय ही, वनस्पति के साथ ही नहीं, पशु-प्राणियों के साथ भी संग्राम करना पड़ता है। जहाँ तक वनस्पति का सम्बन्ध है, किसान अपनी फसलों के साथ इतनी हिंसा नहीं करता है, जितनी वह अपनी खेती की जमीन पर स्वतः उगने वाले पौधों के साथ करता है।"

"सर्व उच्च आदर्शों की तरह, अहिंसा के आदर्श का भी पालन करना सहज नहीं है, जिस स्वाभाविक ढंग से मनुष्यों को चलना और खाना आता है, उस तरह अहिंसा का पालन नहीं आता। जिस संसार में जीवित प्राणी जमीन और खाद्य के लिए निरन्तर प्रतिद्वन्द्विता करते रहते हैं; जिस संसार में एक प्राणी दूसरे प्राणियों को खाकर ही जिन्दा रह सकता है, उसमें अहिंसा का पालन अत्यधिक कठिन है। शायद अपने चरम रूप में अहिंसा का आदर्श भी, उस आदर्श की तरह रहेगा, जिस पर पहुँच सकने के बजाय, आदमी पहुँचने की चेष्टा ही करेगा।

महात्मा गाधी ने भी इस विषय पर विशद चर्चा की है। उन्होंने खेती को अनिवार्य माना है, सदोष भी माना है, उस दोष की ज्ञान आदि के द्वारा मुक्ति हो जाती है, यह भी माना है और व्यवहार-शास्त्र की दृष्टि से उसे शुद्ध पुण्य कर्म भी माना है—"हिंसा तो सभी समय हिंसा ही रहेगी और हिंसा मात्र पाप है। किन्तु जो हिंसा अनिवार्य हो पड़ती है, उसे व्यवहार-शास्त्र पाप नहीं मानता। इसलिए यज्ञार्थ की गई हिंसा का व्यवहार-शास्त्र अनुमोदन करता है और उसे शुद्ध पुण्य कर्म मानता है [३००]।" व्यवहार की भूमिका में इसे पाप सम्भवतः कोई भी नही मानता। भूमिका-भेद और विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाए तो इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

कृषि सब लोग करें—यह विचार श्रम की प्रतिष्ठा के लिए सहज है पर व्यावहारिक है या नहीं—इस चर्चा में यहाँ नहीं जाना है। फिर भी यह स्पष्ट है कि

सामाजिक जीवन परस्पर के सहयोग की भित्ति पर टिका हुआ है। उसके सहयोग का अर्थ विभिन्न श्रमों का विभाजन है—इसीलिए सब खेती करें—यह आग्रह भी विशेष मूल्यवान् नहीं है। किन्तु वर्तमान स्थिति में खाद्यान्नों की कमी है। जन-सख्या तीव्र गति से बढ़ रही है। कृषि-सवर्धन के लिए जनता को प्रोत्साहित करना विशेष अपेक्षित है। इस अपेक्षा को सामयिक धर्म तक ले जाया जाए, वह एक दूसरी बात है किन्तु उसे शाश्वत धर्म—अहिंसा-धर्म का रूप न दिया जाए। देह-मुक्ति की साधना को दैहिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए न खपाया जाए। परिस्थितिया समाज-शास्त्रीय स्तर पर जितने सहज ढग से सुलझ सकती हैं, उतनी सहजता से धर्म-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र को मिश्रित करने पर नहीं सुलझती।

ऋषि कृषि करें—इस पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। घर से मुक्त होकर ऋषि बने और फिर वह कृषि करे—यह बात व्यवहार में उतनी सरल नही है, जितनी हम सोचते हैं। कृषि के पीछे घर की सारी व्यवस्था जुड़ी हुई है। ऋषि कोरा घर ही नहीं छोड़ता है, वह भूमि भी छोड़ता है और-और साधन-सामग्री को भी छोड़ता है। ऋषि अनुत्पादक न हो जाए—यह विचार वर्तमान की परिस्थितियो से उपजा है। संन्यास या मुनि-जीवन की परिकल्पना मे कृषि का स्थान नहीं है, उनका आहार स्वतन्त्र भाव से भिक्षा देने वाले गृहस्थो के इच्छावृत्त आत्म-संकोच से प्राप्त होता है। इसलिए वे उत्पादको पर भार नहीं बनते। और यह सच है कि वे उत्पादक बनकर जो देहाध्यास का त्याग और देह-मुक्ति चाहते हैं, उसमें लीन नहीं हो पाते।

डा० अलेक्जेण्डर ने लिखा है—"अहिंसा का पालन सब मनुष्यो के लिए समान भाव से कठिन नही है। पुस्तको में रत पण्डित, भिक्षाचारी साधु, कलाजीवी तथा व्यवसायी भी यदि वे दूसरे मनुष्यो के साथ अपने व्यवहार में न्यायशील हो, निर्दय 'शिकारों' से विरत रहें और नाना प्रकार के उत्पाती कीटअणुओ से समय-समय पर होने वाली छोटी-मोटी विरक्तियों को सहन करने को तैयार हों, तो वे अन्य प्राणियों को प्रत्यक्ष भाव से बहुत ही कम कष्ट पहुंचाते हुए अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। लेकिन इन सब लोगों को भी भोजन करना ही पड़ेगा और यदि उनका भोजन उन खेतों से आता है जहाँ अहिंसा का पालन नही होता, तो भोजन करने में वे परोक्ष हिंसा या परकृत हिंसा का अनुमोदन करते हैं—यद्यपि उन्होंने कभी इन खेतों

को नहीं देखा है और यह जानते भी नहीं हैं कि वहाँ क्या होता है? लेकिन वे बिल्कुल निर्दोष नहीं माने जा सकते हैं और वे उनके भोजन को उत्पन्न करने वाले किसान के द्वारा की गई अहिंसा के नियमों के व्याघातो के भागी हुए बिना नहीं रह सकते हैं।"

अनुमोदन की यह परिभाषा उन पर लागू होती है जिन्हें अपने लिए रोटी पकाने, पकवाने, पकाने वाले का अनुमोदन करने का त्याग नहीं है। जिसने ऐसा त्याग किया है, जिसके जीवन-निर्वाह का एक मात्र विकल्प यही है कि कोई अपने खाने में से कुछ भाग दे—स्वयं कम खाए, दूसरा बना उसकी पूर्ति न करे—वह खाए वैसा न मिले-तो न खाए, अनशन करे वही उसके अनुमोदन से बच सकता है।

तर्क हो सकता है यदि सभी लोग हिंसा से बचने के लिए दूसरो पर निर्भर हो जाएं तो समाज का निर्वाह कैसे हो? यह तर्क के लिए तर्क है, व्यावहारिक नहीं है। ब्रह्मचर्य की चर्चा छिड़ने पर ऐसा ही तर्क उपस्थित होता है, यदि सब लोग ब्रह्मचारी बन जाएं तो यह संसार कैसे चले? पर सच यह है कि न तो सब लोग ब्रह्मचारी बनते हैं और न सब पूर्ण अहिंसा का ही आग्रह रखते हैं। ये भाव उन्हींमें होते हैं जिनमें विशिष्ट वैराग्य का उदय होता है। यह उदय सब मे कैसे हो सकता है और यदि हो जाएगा तो फिर ऐसा तर्क कोई करेगा ही नहीं।

*...एक व्यक्ति आश्रित है। फिर भी एक नहीं है। राग, द्वेष, मोह-युक्त विचार या प्रवृत्तियां व्यावहारिक हैं और तद्-वियुक्त विचार एवं प्रवृत्तियां आध्यात्मिक हैं। उदाहरण स्वरूप खाद्य-व्यवस्था, यातायात-व्यवस्था, चिकित्सा-व्यवस्था, सुरक्षा आदि कार्य व्यावहारिक हैं। अहिंसा, सत्य आदि आध्यात्मिक हैं। लोक-व्यवहार मे व्यावहारिक कार्यों का महत्त्व है और आध्यात्मिक दृष्टि से आध्यात्मिक कार्यों का महत्त्व है। इस प्रकार दोनो का कार्यक्षेत्र पृथक्-पृथक् मानने से यथा सम्भव दोनों की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं आती। जैसा कि एक पादरी के प्रश्न के उत्तर में महात्मा गाधी ने लिखा है—"राष्ट्र आपके स्वास्थ्य, यातायात, विदेश सम्बन्धी मुद्रा आदि अनेक बातो की देखभाल करेगा, किन्तु मेरे या आपके धर्म की देखभाल नही करेगा[३०८]। यह प्रत्येक व्यक्ति का निजी मामला है।"

---

* जीवन के दो स्रोत हैं—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। ये दोनों......

परिशिष्ट : १ :

टिप्पणियाँ

१—इह मेगेसिं नो सन्ना भवइ, कम्हाओ दिसाओ वा आगओ अहमंसि ? अत्थि मे आया उववाइए वा नत्थि ? के वा अहमंसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि। (आचारांग १–१)

२—अन्नाणी किं काहीइ, किंवा नाहीइ सेय पावगं। (दशवैकालिक ४–१०)

३—पढमं नाणं तओ दया। (दशवैकालिक ४–१०)

४—येनाहं नामृता स्यां किं तेन कुर्याम्।
यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि ॥ (वृहदारण्योपनिषद्)

५—एकोहु धम्मो नरदेवताणं, न विज्जए अन्नमिहेह किंचि। (उत्तराध्ययन १४-४०)

६—आत्मा वा रे द्रष्टव्य : श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
(बृहदारण्योपनिषद् २-४-५)

७—तमेव सच्चं णीस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं। (भगवती १-३-३०)

८—सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
(मुण्डकोपनिषद् ३–५)

९—रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥

१०—अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानाति यथाज्ञानञ्चाभिधत्ते स आप्तः।
(प्रमाण नयतत्त्वालोक ४–४)

११—से वेमि—अथ ब्रवीमि, (आचारांग १-१-३)

१२—(उत्तराध्ययन २८–२०)

१३—(उत्तराध्ययन २८–२६)

१४—(उत्तराध्ययन २८–२४)

१५—श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः, मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयं, एते दर्शनहेतवः ॥

१६—दव्वाणंसव्वभावा, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा।
सव्वाहि नयविहीहिं, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥ (उत्तराध्ययन २८–२४)

१७—आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिकारणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ (ज्ञानसार)

१८—इह द्विविधा भावाः—हेतुग्राह्या अहेतुग्राह्याश्च। तत्र हेतुग्राह्या जीवास्तित्वादयः, तत्साधकप्रमाणसद्भावात्। अहेतुग्राह्या अभव्यत्वादयः, अस्मदाद्यपेक्षया तत्साधकहेतूनामसंभवात्, प्रकृष्टज्ञानगोचरत्वात् तद्धेतूनामिति।
(प्रज्ञापना-वृत्ति पद-१)

१९—न च स्वभावः पर्यनुयोगमश्नुते—न खलु किमिह दहनो दहति नाकाशमिति कोऽपि पर्यनुयोगमाचरति।

२०—श्रवणं तु गुरोः पूर्वं, मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्, पूर्णबोधस्य कारणम् ॥ (शुकरहस्य ३-१३)

२१—जो हेउवायपक्खम्मि, हेउओ, आगमेय आगमिओ।
सो ससमयपन्नवओ, सिद्धांतविराहओ अन्नो ॥ (सम्मति प्रकरण ४५)

२२—भगवान् का समय ई० पू० ५२७ का है।

२३—(सूत्रकृतांग १-१)

२४—तस्य श्रद्धैव शिरः। (तैत्तरीयोपनिषद्)

२५—बुद्धिपूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे। (वैशेषिक दर्शन)

२६—योऽवमन्येत मूले, हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो, नास्तिको वेदनिन्दकः ॥(मनुस्मृति २-११)

२७—यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्मं वेद नेतरः। (मनुस्मृति १२-१०६)

२८—(पंच वस्तु ४ द्वार)

२९—(लोक तत्त्व निर्णय)

३०—न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः॥
(अयोग-व्यवच्छेदिका २९)

स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥ (ज्ञानसार)

३१—प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः। (न्यायसूत्र १-१)

३२—विपयो धर्मवादस्य, तत्तत्तन्त्रव्यपेक्षया ।
प्रस्तुतार्थोपयोग्येव, धर्मसाधनलक्षणः ॥ (धर्मवादाष्टक)

३३—(शंकर दिग्विजय)

३४—अन्यत एव श्रेयास्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः ।
वाक्-संरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥ (वादद्वात्रिंशिका ७)

३५—(महाभारत वनपर्व ३१२–११५)

३६—यत्नानुमितोऽप्यर्थः, कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यै, रन्यथैवोपपद्यते ॥
ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥
न चैतदेव यत्तस्मात्, शुष्कतर्कग्रहो महान् ।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥
(योगदृष्टि समुच्चय १४३-१४४-१४५)

३७—सच्चं लोगम्मि सारभूयं । (प्रश्नव्याकरण २)

३८—सत्यमायतनम् । (केनोपनिषद् चतुर्थ खण्ड ८)

३९—एकाप्यनाद्याखिलतत्त्वरूपा, जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।
तत्राप्यसत्यं त्यज सत्यमङ्गीकुरु स्वयं स्वीयहिताभिलापिन् ॥
(द्रव्यानुयोगतर्कणा)

४०—(न्यायसूत्र १-१-१, वैशेषिक दर्शन १-१-१)

४१—(सर्व पदार्थ लक्षण संग्रह, पृष्ठ २७)

४२—नानाविरुद्धयुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय वर्तमानो विचारः परीक्षा ।

४३—(सूत्रकृतांग १-१-१)

४४—(समवायांग)

४५—(षड् दर्शन समुच्चय ७८-७९)

४६—मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषि भवतीति । तेभ्य एवं तर्क-ऋषिं प्रायच्छन्‌···· ····(निरुक्त २–१२)

४७—गुणाणमासओ दव्वं । (उत्तराध्ययन २८–६)

४८—सद् दव्वं वा । (भगवती)

४६—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। (तत्त्वार्थ सूत्र ५-२६)

५०—वैशेषिक दर्शनकार ने जहाँ द्रव्य के लक्षण में क्रिया शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ जैन दर्शन में पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है—'क्रियागुणवत् समवायिकारण-मिति द्रव्यलक्षणम्' (वैशेषिक दर्शन १-१-५, 'गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्' जैनसिद्धान्त दीपिका १-३।)

५१—(पातञ्जल योग, मीमांसा श्लोक वार्तिक पृष्ठ ६१६, शास्त्र दीपिका।)

५२—घटमौलिः सुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वलम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम्॥

(शास्त्रवार्ता समुच्चय ७ श्लोक २)

५३—(भगवती १३-४-४८१)

५४—एगे धम्मे—एकः प्रदेशार्थतया असंख्यातप्रदेशात्मकत्वेऽपि द्रव्यार्थतया तस्यै-कत्वात्। (स्थानांग वृत्ति १)

५५—लोयमेत्ते, लोयपमाणे (भगवती २-१०)

५६—(भगवती १३-४)

५७—(भगवती १३-४)

५८—धर्माधर्मविभुत्वात्, सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात्।
नोलोकः कश्चित् स्या, न्न च सम्मतमेतदर्याणाम्॥ १॥
तस्माद् धर्माधर्मौ, अवगाढौ व्याप्य लोकखं सर्वम्।
एवं हि परिच्छिन्नः, सिद्ध्यति लोकस्तद् विभुत्वात्॥ २॥

(प्रज्ञापना वृत्ति पद १)

५९—लोकालोकव्यवस्थानुपपत्तेः। (प्रज्ञापना वृत्ति पद १)

६०—यो यो व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयः, स स सविपक्षः। यथा घटोऽघटविपक्षकः। यश्च लोकस्य विपक्षः सोऽलोकः (न्यायालोक)

६१—लोक्यन्ते जीवादयोऽस्मिन्निति लोकः, लोकः—धर्माधर्मास्तिकायव्यवच्छिन्ने, अशेषद्रव्याधारे, वैशाखस्थानकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषोपलक्षिते आकाशखण्डे।

(आचारांग टीका १-२-१)

६२—अलोकास्तु भावाद्यैर्भावैः पञ्चभिरुज्झितम्।
अनेनैव विशेषेण, लोकाभ्रात् पृथगीरितम्॥ (लोक प्रकाश २-२८)

६३—तम्हा धम्माधम्मा, लोगपरिच्छेयकारिणो जुत्ता।
इयरहा गासे तुल्ले, लोगालोगेत्ति को भेओ॥ (न्यायालोक)

६४—(भगवती ३-४)

६५—किमयं भंते! कालोति पवुच्चइ? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव। (भगवती)

६६—कइणं भंते! दव्वा पण्णत्ता? गोयमा! छ दव्वा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमए।
(भगवती)

६७—समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति वा, अजीवाति वा पवुच्चति।
(स्थानांग ६५)

६८—जीवेणं भंते! पोग्गली, पोग्गले? जीवे पोग्गलिवि पोग्गलेवि।
(भगवती ८-१०-३६१)

६९—देखो पारिभाषिक शब्दकोष (परिशिष्ट नं० २)

७०—(भगवती १३-४)

७१—(स्थानांग २)

७२—(प्रज्ञापना वृत्ति पद ११)

७३—(प्रज्ञापना वृत्ति पद ११)

७४—(प्रज्ञापना वृत्ति पद ११)

७५—तएणं तीसेमेघोघरसियगंभीरमहुरयरसद्दं जोयण परिमंडलाए सुघोसाए घंटाए तिक्खुत्तो उल्लालियाए समाणीए सोहम्मे कप्पे अन्नेहिं एगूणेहिं वत्तीसविमाणावाससयसहस्सेहिं अन्नाइं एगूणाइं वत्तीसं घण्टासयसहस्साइं जमगसमग कणकणारावं काउं पयत्ताइं पि हुत्था। (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ५)

७६—(भगवती १३-४, २-१०)

७७—अनामिकान्। (साङ्ख्य कौमुदी १)

७८—सोऽनन्तसमयः। (तत्त्वार्थ सूत्र ५-४०)

७९—धम्मं अधम्मं आगासं, दव्वं इक्केक्कमाहियं।
अणन्ताणिय दव्वाणि, कालो पोग्गल जन्तवो॥ (उत्तराध्ययन २८-८)

८०—(भगवती २-१०)

८१—(उत्तराध्ययन ३६, स्थानांग २-४)

८२—(भगवती १३-४, लोक प्रकाश २-३)

८३—(उत्तराध्ययन २८, लोक प्रकाश २-५)

८४—(प्रज्ञापना वृत्ति पद १)

८५—(लोक प्रकाश २-५)

८६—(हिन्दी विश्व भारती अंक १ लेख १)

८७—(हिन्दी विश्व भारती अंक १)

८८—(हिन्दी विश्व भारती अंक १ चित्र १)

८९—कम्मओ णं भंते ! जीवे, नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, कम्मओ णं जए णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ। (भगवती १२-५)

९०—कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसञ्च तत्। (अभिधान चिन्तामणि कोष)

९१—जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं कज्जतणओ गोयम ! घडो व्व हेऊय सो कम्म। (विशेषावश्यक भाष्य)

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथानैकप्रकारतः ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः ॥

९२—क्रियन्ते जीवेन हेतुभिर्येन कारणेन ततः कर्म भण्यते।

९३—ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्। (न्याय सूत्र ४-१)

९४—अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्। (सांख्य सूत्र ५-२५)

९५—न खलु यो यस्य गुणः स तत्पारतन्त्र्यकृत्। (न्यायालोक)

९६—रूविं पि काये। (भगवती १३-७)

जीवस्स सरूविस्स। (भगवती १७-२)

वण्ण रस पंच गन्धा, दो फासा अट्ठणिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधा दो॥ (द्रव्य संग्रह गाथा ७)

९७—रूवी जीवा चेव अरूवी जीवा चेव। (स्थानांग २)

९८—(भगवती ७-१०)

९९—दव्वं, खेत्तं कालो, भयोय भावो य हेयवो पंच।
हेतु समासेणु दओ जायइ सव्वाण पगईणं॥ (पञ्च सग्रह)

१००—(प्रज्ञापना प० २३)

१०१—जीव खोटा खोटा कर्तव्य करै, जब पुद्गल लागे ताम।
ते उदय आया दुःख ऊपजे, ते आप कमाया काम॥
पाप उदय थी दुःख हुवे, जब कोई मत करज्यो रोप।
किया जिसा फल भोगवे, पुद्गलनो सूँ दोप॥ (नव सद्भाव पदार्थ)

१०२—कम्म चिणंति सवसा, तस्सु दयम्मि उ परवसा होन्ति।
रूक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परवसो तत्तो॥ (बृहत्कल्प भाष्य १)

१०३—कत्थवि वलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति वलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्व विरुद्धाइ वैराइ॥
(गणधरवाद अधिकार २ गाथा २५)

१०४—कृतस्याऽविपक्वस्य नाशः—अदत्तफलस्य कस्यचित् पापकर्मणः प्रायश्चित्तादिना नाश इत्येका गतिरित्यर्थः। (पातञ्जलयोग पाद २ सूत्र १३)

१०५—सव्व जीवाणं पि य ए अक्खरस्स अणन्तभागो निच्चुग्घाडिओ जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्तं पाविज्जा—सुट्ठुविमेह समुदये, होइ पहा चद-सूराण। (सूत्र ४२)

१०६—(प्रज्ञापना लेश्या पद)

१०७—तत्र द्विविधा विशुद्धलेश्या—'उवसमखइय' त्ति सूत्रत्वादुपशमक्षयजा, केषां पुनरुपशमक्षयौ ? यतो जायत इयमित्याह—कषायाणाम्, अयमर्थः—कषायोपशमजा कषायक्षयजा च, एकान्तविशुद्धिं चाश्रित्यैवमभिधानम्, अन्यथा हि क्षायोपशमिक्यपि शुक्ला तेजःपद्मे च विशुद्धलेश्ये संभवत एवेति।
(उत्तराध्ययन वृत्ति ३४ अ०)

१०८—त ओ दुग्गइ गामिणिओ, तओ सुग्गइगामिणिओ। (प्रज्ञापना १७-४)

१०९—किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
तेऊ पम्हा सुक्काए, तिण्णि वि एयाओ धम्म लेसाओ॥
(उत्तराध्ययन ३४—५६, ५७)

११०—कर्माऽशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (पातञ्जलयोग ४ सूत्र ७)

१११—(सांख्य कौमुदी पृष्ठ २००)

११२—(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४-५)

११३—ब्रह्मणो मुखान्निर्गता ब्राह्मणाः, बाहुभ्यां क्षत्रियाः, ऊरुभ्या वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, अन्त्ये भवा अन्त्यजाः।

११४—कम्मुणा बंभणो होइ, खत्तिओ होइ कम्मुणा।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥ (उत्तराध्ययन ३३-२५)
न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होइ, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥
(सुत्त निपात—आग्निक-भारद्वाज सूत्र १३)

११५—तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम्। (महाभारत)

११६—अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः।

११७—मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ (महापुराण ३८-४५)

११८—लक्षणं यस्य यल्लोके, स तेन परिकीर्त्यते।
सेवकः सेवया युक्तः, कर्षकः कर्षणात्तथा॥
धानुष्को धनुषो योगाद्, धार्मिको धर्मसेवनात्।
क्षत्रियः क्षततस्त्राणाद्, ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः॥ (पद्मपुराण ६। २०६-२१०)

११९—स्त्रीशूद्रौ ना धीयाताम्।

१२०—न जाति-मात्रतो धर्मो, लभ्यते देहधारिभिः।
सत्य-शौच-तपः-शील-ध्यानस्वाध्यायवर्जितैः॥
संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्या, सा जातिर्महती सताम्॥ (धर्मपरीक्षा १७ परि०)
सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदु भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक २८)

१२१—गोत्तकम्मे दुविहे पण्णत्ते—तं जहा—उच्चागोए चेव णीया गोये चेव।
(स्थानांग २-४)

१२२—संताणकमेणागय, जीवामरणस्स गोदमिति सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं, उच्चं नीचं हवे गोदम्॥ (गोम्मटसार कर्म १३)

१२३—गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तत् गोत्रम्, उच्चनीच-कुलोत्पत्तिलक्षणः पर्याय-विशेषः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रम्, कारणे कार्योपचारात्, यद्वा कर्मणोऽ-

पादानविवक्षया गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् तत् गोत्रम्। (प्रज्ञापना वृत्ति २३)

पूज्योऽपूज्योऽयमित्यादि व्यपदेश्यरूपा गा वाच त्रायते इति गोत्रम्।

(स्थानांग वृत्ति २-४)

१२४—उच्चैर्गोत्रं पूज्यत्वनिबन्धनम्, इतरद्–विपरीतम्। (स्थानाग वृत्ति १-४)

उच्चम्–प्रभूतधनापेक्षया प्रधानम्। अवचम्–तुच्छधनापेक्षया अप्रधानम्।

(दशवैकालिक दीपिका ५-२-२५)

१२५—समुयाणं चरे भिक्खु कुलं उच्चावयं सया। (दशवैकालिक ५-२)

१२६—जात्या विशिष्टो जातिविशिष्टः तद्भावो जातिविशिष्टता इत्यादिकम्। वेदयते पुद्गलं वाह्यद्रव्यादिलक्षणम्। तथाहि द्रव्यसम्बन्धाद् राजादिविशिष्टपुरुष-सम्परिग्रहाद् वा नीच-जातिकुलोत्पन्नोऽपि जात्यादि सम्पन्न इव जनस्य मान्य उपजायते। (प्रज्ञापना वृत्ति पद २३)

१२७—(आचारांग वृत्ति १-६, प्रवचन सार १५१ द्वार)

१२८—जातिर्मातृकी, कुलं पैतृकम्। व्यवहार वृत्ति उ० १)

जाई कुले विभासा–जातिकुले विभाषा–विविधं भाषणं कार्यम्–तच्चैवम्–जातिर्ब्राह्मणादिका, कुलमग्रादि अथवा मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलम्।

(पिण्ड निर्युक्ति ४६८)

१२९—(उत्तराध्ययन ३)

१३०—(सूत्रकृतांग ९-१३)

१३१—(स्थानांग ४-२)

१३२—(स्थानाग ४ २)

१३३—वत्थुसहावो धम्मो, धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो।

मोहकोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ (कुन्दकुन्दाचार्य) --

१३४—पुद्गलकर्म शुभं यत्, तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।

(प्रशमरति प्रकरण गाथा २१९)

१३५—श्रुतचारित्राख्यात्मके कर्मक्षयकारणे जीवस्यात्मपरिणामे।

(सूत्रकृतांग वृत्ति २-५)

१३६—कर्म च पुद्गलपरिणामः, पुद्गलाश्चाजीवा इति। (स्थानांग वृत्ति ९)

१३७—धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, पुण्यं तत्फलभूतं शुभकर्म। (भगवती वृत्ति १-७)

१३८—संसारोद्धरणस्वभावः। (सूत्रकृतांग वृत्ति १-६)

१३९—सौवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
वंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कद कम्म॥ (समयसार १४६)

१४०—यदशुभ (पुद्गलकर्म) मथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम्।
(प्रशमरति प्रकरण २१९)

१४१—धर्माधर्मौ पुण्यपापलक्षणौ। (आचारांग वृत्ति ४)

१४२—निरवद्य करणीस्यूं पुण्य नीपजे, सावद्यस्यूं लागे पाप। (नव सद्भाव पदार्थ—पुण्य)

१४३—पुण्यपापकर्मोपादानानुपादानयोरध्यवसायानुरोधित्वात्। (प्रज्ञापना पद २२)

१४४—योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः।
(सूत्र कृतांग वृत्ति २-५-१७ तत्त्वार्थ सूत्र ६-३)

शुद्धाः योगा रे यदपि यतात्मनां, स्रवन्ते शुभ कर्माणि।
काञ्चननिगडांस्तान्यपि जानीयात्, हत निर्वृतिशर्माणि॥
(शान्तसुधारस—आश्रव-भावना)

१४५—(भगवती ८-२, तत्त्वार्थ सूत्र ६, नव सद्भाव पदार्थ—पुण्य)

१४६—सुह-असुहजुत्ता, पुण्णं पापं हवंति खलु जीवा। (द्रव्यसंग्रह ३८)

१४७—पुण्णाइं अकुव्वमाणो—पुण्यानि पुण्यहेतुभूतानि शुभानुष्ठानानि अकुर्वाणः।
(उत्तराध्ययन वृत्ति १३-२१)

एवं पुण्णपयं सोच्चा—पुण्यहेतुत्वात् पुण्यं तत् पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदं स्थानं पुण्यपदम्। (उत्तराध्ययन वृत्ति १८-३४)

१४८—त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति, न तं विना यद् भवतोऽर्थकामौ। (सूक्तिमुक्तावली)

१४९—प्राज्यं राज्यं सुभगदयितानन्दनानन्दनानां,
रम्यं रूपं सरसकविताचातुरी सुस्वरत्वम्।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः,
किन्तु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य॥ (शान्तसुधारस—धर्मभावना)

१५०—ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष, न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते॥

१५१—सति मूले तद् विपाको जात्यायुर्भोगाः । (पातञ्जल योग २-१३)
ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् । (पातञ्जल योग २-१४)

१५२—जाति—जैन परिभाषा में नाम कर्म की एक प्रकृति ।

१५३—भोग—वेदनीय ।

१५४—यत्र प्रतिक्रमणमेव विषप्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।
तत् किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निःप्रमादः ॥
(समयसार ३० मोक्षाधिकार)

१५५—पुण्य तणी वांछा कियां, लागेंछै एकांत पाप । (नव सद्भाव पदार्थ ५२)

१५६—नो इह लोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा,
नो परलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा ।
नो कित्तीवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा,
नन्नत्थनिज्जरट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा । (दशवैकालिक ६-४)

१५७—मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।……
काम्यानि—स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि, निषिद्धानि-नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि । (वेदान्तसार पृष्ठ ४)

१५८—(उत्तराध्ययन २१-२४)

१५९—(उत्तराध्ययन १०-१५)

१६०—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते (गीता २-५०)

१६१—आस्रवो भव हेतुः स्यात् सम्वरो मोक्षकारणम् ।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् (वीतराग स्तोत्र १९-६)

१६२—आस्रवो वन्धो वा वन्धद्वारायाते च पुण्य पापे,
मुख्यानि तत्त्वानि संसारकारणानि । (स्थानांग वृत्ति ९)

१६३—जिण पुण्य तणी वांछा करी, तिण वांछया काम ने भोग ।
संसार वधै काम भोग स्यूं, पामे जन्म-मरणने सोग ॥
(नव सद्भाव पदार्थ पुण्य ६०)

१६४—अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष - सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥
(कठोपनिषद् १-२-१)

१६५—(ऋग्वेद पृथ्वी सूक्त)

१६६—नित्य व्यवहार में 'धर्म' शब्द का उपयोग केवल "पारलौकिक सुख का मार्ग" इसी अर्थमें किया जाता है। जब हम किसी से प्रश्न करते हैं कि "तेरा कौन-सा धर्म है ?" तव उससे हमारे पूछने का यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिए किस मार्ग—वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी—से चलता है; और वह हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह, स्वर्ग प्राप्ति के लिए साधनभूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय "अथातो धर्म जिज्ञासा" आदि धर्म-सूत्रों में भी धर्मशब्द का यही अर्थ लिया गया है। परन्तु 'धर्म' शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके सिवा राज-धर्म, प्रजा-धर्म, देश-धर्म, जाति-धर्म, कुल-धर्म, मित्र-धर्म इत्यादि सांसारिक नीति-बन्धनों को भी 'धर्म' कहते हैं। धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक् करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को 'मोक्ष-धर्म' अथवा सिर्फ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल 'धर्म' कहा करते हैं। उदाहरणार्थ, चतुर्विध पुरुषार्थों की गणना करते समय हम लोग "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष," कहा करते हैं। इसके पहले शब्द धर्म में ही यदि मोक्ष का समावेश हो जाता तो अन्त में मोक्ष को पृथक् पुरुषार्थ वतलाने की आवश्यकता न रहती; अर्थात् यह कहना पड़ता है कि 'धर्म' पद से इस स्थान पर संसार के सैकड़ों नीति-धर्म ही शास्त्रकारों के अभिप्रेत हैं। इन्हींको हम लोग आज कल कर्त्तव्यकर्म, नीति, नीति-धर्म अथवा सदाचरण कहते हैं। परन्तु प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में 'नीति' अथवा 'नीति-शास्त्र' शब्दों का उपयोग विशेष करके राजनीति ही के लिए किया जाता है, इसलिए पुराने जमाने में कर्त्तव्यकर्म अथवा सदाचार के सामान्य विवेचन को 'नीति-प्रवचन' न कह कर 'धर्म-प्रवचन' कहा करते थे। परन्तु 'नीति' और 'धर्म' दो शब्दों का यह पारिभाषिक भेद सभी संस्कृत-ग्रन्थों में नहीं माना गया है। इसलिए हमने भी इस ग्रन्थ में 'नीति' 'कर्त्तव्य' और 'धर्म' शब्दों का उपयोग एक ही अर्थ में किया है; और मोक्ष का विचार जिस स्थान पर करना है, उस प्रकरण के 'अध्यात्म' और 'भक्तिमार्ग' ये स्वतन्त्र नाम रखे हैं। महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है; और जिस

स्थान में कहा गया है कि "किसी को कोई काम करना धर्म-संगत है" उस स्थान में धर्म शब्द से कर्त्तव्य शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्था-शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है, तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसग आया है उस स्थान पर, अर्थात् शान्ति पर्व के उत्तरार्ध में, 'मोक्ष-धर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है। इसी तरह मन्वादि स्मृति-ग्रन्थोमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विशिष्ट कर्मों, अर्थात् चारो वर्णों के कर्मों का वर्णन करते समय केवल धर्म शब्द का ही अनेक स्थानों पर कई बार उपयोग किया गया है। और भगवद्गीता में भी जब भगवान् अर्जुन से यह कह कर लड़ने के लिये कहते हैं कि "स्वधर्ममपिचाऽवेक्ष्य" (गी० २-३१) तब, और इसके बाद "स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मोभयावहः" (गी० ३-३५) इस स्थान पर भी, 'धर्म' शब्द "इस लोक के—चातुर्वर्ण्य के धर्म" के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। पुराने जमाने के ऋषियों ने श्रम-विभाग रूप चातुर्वर्ण्य संस्था इसलिए चलाई थी कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जावें, किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज का सभी दिशाओं से संरक्षण और पोषण भली-भांति होता रहे। यह बात भिन्न है, कि कुछ समय के बाद चारो वर्णों के लोग केवल जाति-मात्रोपजीवी हो गए, अर्थात् सच्चे स्वकर्म को भूल कर वे केवल नाम-धारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गए। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में यह व्यवस्था समाज धारणार्थ ही की गई थी; और यदि चारो वर्णों में से कोई भी एक वर्ण अपना धर्म अर्थात् कर्त्तव्य छोड़ दे, अथवा यदि कोई वर्ण समूल नष्ट हो जाय और उसकी स्थान-पूर्ति दूसरे लोगो से न की जाय तो कुल समाज उतना ही पंगु होकर धीरे-धीरे नष्ट भी होने लग जाता है अथवा वह निकृष्ट अवस्था में तो अवश्य पहुँच जाता है। यद्यपि यह बात सच है कि यूरोप में ऐसे अनेक समाज हैं जिनका अभ्युदय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के बिना ही हुआ है; तथापि स्मरण रहे कि उन देशों में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था चाहे न हो, परन्तु चारों वर्णों के सब धर्म, जातिरूप से नहीं तो गुण विभागरूप ही से जागृत अवश्य रहते हैं। सारांश, जब हम धर्म शब्द का उपयोग व्यावहारिक दृष्टि से करते हैं तब हम यही देखा करते हैं, कि सब

समाज का धारण और पोषण कैसे होता है ? मनु ने कहा है—"असुखोदर्क" अर्थात् जिसका परिणाम दुःखकारक होता है उस धर्म को छोड़ देना चाहिए। (मनु० ४-१७६) और शान्तिपर्व के सत्यानृताध्याय (शां० १०६-१२) में धर्म-अधर्म का विवेचन करते हुए भीष्म और उसके पूर्व कर्णपर्व में भी श्रीकृष्ण कहते हैं:—

धारणाद्धर्ममित्याहुः, धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तः, स धर्म इति निश्चयः ॥

"धर्म शब्द धृ (=धारण करना) धातु से बना है। धर्म से सब प्रजा बंधी हुई है। यह निश्चय किया गया है कि जिससे (सब प्रजाका) धारण होता है—वही धर्म है।"
(महा० कर्ण० ६६-५६)

यदि यह धर्म छूट जाय तो समझ लेना चाहिए कि समाज के सारे बन्धन भी टूट गये; और यदि समाज के बन्धन टूटे, तो आकर्षण शक्ति के बिना आकाश में सूर्यादि ग्रहमालाओं की जो दशा होती है, अथवा समुद्र में मल्लाह के बिना नाव की जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाज की भी हो जाती है। (गी० र० पृष्ठ६४-६६)

१६७—मेहुणधम्माओ विरया। (आचारांग २-१-१-३)

१६८—गामधम्मा इइ मे अणुस्सुयं। ग्रामधर्मा शब्दादिविषया मैथुनरूपा वा।
(सूत्र कृतांग वृत्ति १-२-२-२५)

१६९—संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे।·········पापं पापोपादानकारणं धर्मं प्राण्युपमर्दन प्रवृत्तं निराकुर्यात्। (सूत्रकृतांग वृत्ति १-११-३५)

स्थानांग सूत्र के नवें स्थान में बताया है कि परिमाण, स्वभाव, शक्ति और धर्म-ये एकार्थक हैं। तथा इसके दसवें स्थान में दस प्रकार के धर्म बतलाए हैं। वहाँ भी धर्म के अनेकार्थक प्रयोग हैं।

१७०—(मनुस्मृति ८-४१)

१७१—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम् ॥
··················ते यान्ति परमां गतिम् ।

१७२—अहिंसा सत्यमस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एते सामासिकं धर्मं, चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥

१७३—यो यस्य स्वभावः, स तस्य धर्मः। (सूत्र कृतांग वृत्ति १-६)

१७४—धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्यायाः। (स्थानाग वृत्ति २-१)

१७५—न धर्मधर्मित्वमतीव भेदे। (अन्ययोग व्यवच्छेदिका ७)

१७६—(क) दुविहे धम्मे पण्णत्ते—तं जहा सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव। (स्थानाग २)

(ख) धम्मं सरणं गच्छामि (बौद्ध)

(ग) अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मिथुनवर्जनम्।
पंचस्वेतेषु धर्मेषु, सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः॥ (वैदिक)

१७७—गम्मपसुदेसरज्जे, पुरवरगामगणगोट्ठिराईण।
सावज्जो उ कुतित्थिय, धम्मो न जिणेहिं उ पसत्थो॥

(दशवैकालिक निर्युक्ति १-४२)

१७८—कुप्रावचनिक उच्यते—असावपि सावद्यप्रायो लौकिक-कल्प एव।

(दशवैकालिक १ निर्युक्ति ३९, ४०, ४१)

१७९—(जैन सिद्धान्त दीपिका ७-२७-२८)

१८०—इच्चेइयाइँ पंचमहव्वयाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।

(दशवैकालिक ४)

१८१—(पातञ्जल योग २-३०-३१)

१८२—(गीता रहस्य पृष्ठ ४७)

१८३—नहि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः॥

(महाभारत शांति पर्व २५६-१७-१८)

१८४—(साङ्ख्य कौमुदी पृष्ठ ६९)

१८५—एक्क चिय एक्कवयं, निद्दिट्ठ जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायविरमण—सव्वासत्तस्स रक्खट्ठा॥ (पञ्चसंग्रह)
अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।
एतत्संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम्॥ (हारिभद्रीय अष्टक)

१८६—अहिंसा शस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्। (हारिभद्रीय अष्टक १५।५)

१८७—अहिंसापयसः पालि—भूतान्यन्यव्रतानि यत्॥ (योग शास्त्र २ प्र०)

१८८—अहिंसा निउणा दिट्ठा—सव्वभूएसु संजमो। (दशवैकालिक ६-८)

१८९—अहिंसा सव्वपाणानं अरियोत्ति पव्वुच्चइ । (धम्मपद)

१९०—तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । (व्यास भाष्य)

१९१—कर्मणा, मनसा, वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा ।

अक्लेशजननं प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभिः । गीता टीका)

१९२—(मङ्गल प्रभात पृष्ठ ८१)

१९३—(प्रश्न व्याकरण सूत्र १ सं०)

१९४—अनुकम्पा कृपा । यथा सर्वे एव सत्त्वा सुखार्थिनो दुःखप्रहाणार्थिनश्च ततो नैषामल्पापि पीडामया कार्येति । (धर्म संग्रह अधि० २)

१९५—मूलं धम्मस्स दया, तयणुगयं सव्वमेवऽनुट्ठाणं ।

मूलमाद्यकारणं धर्मस्य उक्तनिरुक्तस्य दया-प्राणिरक्षा ।

१९६—प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा, भूतानामपि ते तथा ।

आत्मौपम्येन भूतानां, दयां कुर्वीत मानवः ॥

१९७—आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।

चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टं, हिंसामन्यस्य नाचरेत् । (योगशास्त्र २-२०)

१९८—अहिंसा सानुकम्पा च । (प्रश्न व्याकरण टीका १ सं०)

अन्नं पानं खाद्यं, लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।

स च रात्रिभक्तविरतः, सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥

१९९—(उत्तराध्ययन २६-३३)

२००—(अनुयोग द्वार)

२०१—दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठ सएहिवा । (दशवैकालिक)

२०२—(भगवती ७-६)

२०३—दयाय संजमे लज्जा, दुगुंछा अच्छलणादिय ।

तितिक्खाय अहिंसाय, हिरीत्ति एगट्ठिया प्रदा ॥

(उत्तराध्ययन निर्युक्ति ३ अ०)

२०४—धर्मः... पूर्णदयामयप्रवृत्तिरूपत्वादहिंसामूलः । (उत्तराध्ययन वृत्ति १-११)

२०५—दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं । (सूत्रकृतांग १-६)

२०६—अभओ पत्थिं वो तुब्भं, अभयदाया भवाहि य......जीवानामभयदानं देहि—जीवानां हिंसा मा कुर्वित्यर्थः (उत्तराध्ययन १८-११)

२०७—त्रिविधे २ छकायजीवाने, भय न उपजावे ताम।
(२०७)यो अभयदान कह्यो अरिहंता, ते पिणछै दया रो नाम। (दया भगवती ६-४)

२०८—तपः कृते प्रशंसन्ति, त्रेताया ज्ञानकर्म च।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ १ ॥
सर्वेषामपि दानानामिदमेवैकमुत्तमम्।
अभय सर्वभूतानां, नास्ति दानमतः परम् ॥२॥
चराचराणां भूतानामभयं यः प्रयच्छति।
स सर्वभयसन्त्यक्तः, परं ब्रह्माधिगच्छति ॥३॥
नास्त्यहिंसासमं दानं, नास्त्यहिंसासमं तपः।
यथा हस्ति पदे ह्यन्यत्, पदं सर्वं प्रलीयते।
सर्वे धर्मास्तथा व्याघ्रः प्रतीयन्ते ह्यहिंसया। (पद्मपुराण १८-४३७-४४१)

२०९—मुत्तूण अभयकरणं, परोवयारोवि नत्थि अण्णोत्ति······नय
गिहिवासे अविगलं तं। (पञ्चवस्तुक १ द्वार गा० २२२)

२१०—अभयं प्राणिनां प्राणरक्षारूपं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात् करोत्यभयंकरः।
स्वतो हिंसानिवृत्तत्वेन परतश्च हिंसामाकार्षीरित्युपदेशदानेन प्राणिनामनुकम्पकः
'अभयंकरे वीर—अणन्तचक्ख'। (सूत्रकृतांग-वृत्ति १-६)

२११—धम्मोवग्गहदाणं, तइयं पुण असण वसण माईणि।
आरंभनियत्ताणं, साहूणं हुंति देयाणि॥ (धर्मरत्न प्रकरण १००)

२१२—न भयं दयते ददाति प्राणापहरणरसिकेऽप्युपसर्गकारिप्राणिनीत्यभयदयः।
अथवा सर्वप्राणिभयपरिहारवती दयाऽनुकम्पा यस्य सोऽभयदयः।
अहिंसाया निवृत्ते, उपदेशदानतो निवर्तके च। (भगवती वृत्ति १-१

२१३—(वृहदारण्यकोपनिषद् अ० ५ ब्रा० २)

२१४—त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः सञ्चिनोति यः।
स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलम्पति ॥ (इष्टोपनिषद् १६, पद्मपुराण)

२१५—शुद्धैर्धनैर्विवर्द्धन्ते, सतामपि न सम्पदः।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः, कदाचिदपि सिन्धवः॥

२१६—(पद्मानन्द महाकाव्य)

२१७—(अनुकम्पा की चऊपई १-४, ५)

२१८—ऐसा भगवती अहिंसा तस थावर सव्वभूयखेमंकरी।

(प्रश्नव्याकरण प्र० सं० द्वा०)

२१९—एषैव भगवती अहिंसा, नान्या। यथा लौकिकैः कल्पिता—'कुलानि तारयेत् सप्त, यत्र गौर्वितृषी भवेत्। सर्वथा सर्वयत्नेन भूमिष्ठमुदकं कुरु॥ इह गोविषये या दया सा किल तन्मतेनाऽहिंसा, अस्याञ्च पृथ्व्युदकपूतरकादीनां हिंसास्तीत्येवंरूपा न सम्यगहिंसेति।

२२०—(आचारांग १-१-३-२७, १-६-५-१६२, १-७-१-१९६)

२२१—नन्वेवमशेषलोकप्रसिद्धगोदानादिव्यवहारस्त्रुट्यति, त्रुट्यतु नामैवंविधः पापसम्बन्धः। (आचारांग वृत्ति १-१-३-२७)

२२२—(प्रश्न व्याकरण १-४)

२२३—(प्रश्न व्याकरण ३-१२)

२२४—(आचारांग ४-२)

२२५—(आचारांग ४-२)

२२६—(आचारांग १-१-२)

२२७—(सूत्रकृतांग वृत्ति १-३-४-६, ७)

२२८—(सूत्र कृतांग ३-४-६, ७)

२२९—सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि, दुःखाच्च सर्वाणि समुद्विजन्ति।
तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि॥

(सूत्र कृतांग वृत्ति से उद्धृत)

२३०—"यज्ञेः हिंसितः पशुर्दिव्यदेहो भूत्वा स्वर्गं लोकं याति।" अतिशयिताऽभ्युदयसाधनभूतो व्यापारोऽल्पदुःखदोऽपि न हिंसा प्रत्युत् रक्षणमेव, तथा च मन्त्रवर्णः "न वा उ एतन् म्रियसे मरिष्यसि देवा निदेषि पथिभिः सुगेभिः। यत्र सन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु इति।" यजुर्वेद अ० २३ मं० १६ हिंसनीयां ननु ग्राहकप्राणवियोगकरव्यापारस्यैव हिंसात्वं न यागीयपशुप्राणवियोगानुकूल व्यापारस्य तस्य पश्वनुग्रहकरत्वात्। (सांख्य कौमुदी)

२३१—(सांख्य कौमुदी पृष्ठ ४४-४५)

२३२—सा चानुकम्पा द्रव्यभावाभ्यां द्विधा—द्रव्यतो यथा अन्नादिदानेन, भावतस्तु धर्ममार्गप्रवर्तनेन। (धर्मरत्न प्रकरण)

२३३—(भगवती ८-६)

२३४—(स्थानांग १०)

२३५—जेयदाणं पसंसंति वह मिच्छंति पाणिणो,

जेयणं पड़िसेहंति वित्तिच्छेयं करंति ते ॥ २० ॥

दुहओ वि तेण भासंति-अत्थि वा णत्थिवा पुणो,

आयं रहस्स हेच्चाणं निव्वाणं पाउणंति ते ॥ २१ ॥

एनमेवार्थं पुनरपिसमासतः स्पष्टतरविमर्षिषुराह—"जेदाणमित्यादि—येकेचनप्रपा-सत्रादिकं दानं बहूनां जन्तूनामुपकारीतिकृत्वाप्रशंसन्ति (श्लाघन्ते) ते परमार्थानभिज्ञाः प्रभूततरप्राणिना तत्प्रशंसाद्वारेण वधं (प्राणातिपात) इच्छन्ति। तद्दानस्यप्राणा-तिपातमन्तरेणाऽनुपपत्तेः। ये च किल सूक्ष्मधियो वयमित्येव मन्यमाना आगमसद्भा-वाऽनभिज्ञाः प्रतिषेधन्ति (निषेधयन्ति) तेप्यगीतार्थाः प्राणिना वृत्तिच्छेदं वर्त्तनोपाय-विघ्नं कुर्वन्ति" ॥ २० ॥ "तदेव राज्ञा अन्येन चेश्वरेणकूपतड़ागसत्रदानादूद्युद्यतेन पुण्य-सद्भावं पृष्टैर्मुमुक्षुभिर्यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह। दुहओवीत्यादि—यद्यस्तिपुण्यमित्येवमूचु-स्ततोऽनन्तानां सत्वानां सूक्ष्मवादराणा सर्वदाप्राणत्याग एव स्यात्। प्रीणनमात्रन्तु पुनः स्वल्पानां स्वल्पकालीयम्—अतोऽस्तीति न वक्तव्यम्। नास्तिपुण्यमित्येवं प्रतिषेधेऽपि तदर्थिनामन्तरायः स्यात्। इत्यतो द्विधाप्यस्तिनास्तिवा पुण्यमित्येवं ते मुमुक्षवः साधवः पुनर्नभाषन्ते। किन्तु—पृष्टैः सद्भिर्मौनमेवसमाश्रयणीयम्। निर्वन्धेत्वस्माकं द्विचत्वा-रिंद्दोषवर्जित आहारः कल्पते। एवं विषये मुमुक्षूणामधिकार एव नास्तीति युक्तम्।

सत्य वप्रेषुशीलं शशिकरधवलं वारि पीत्वा प्रकामं,

व्युच्छिन्नाशेषतृष्णाः प्रमुदितमनसः प्राणिसार्था भवन्ति।

शेषं नीते जलौघे दिनकरकिरणैर्यान्त्यनन्ता विनाशं,

तेनोदासीनभावं व्रजति मुनिगणः कूपवप्रादिकार्ये ॥ १ ॥

तदेवमुभयथापि भाषिते रजसः कर्मण आयोलाभो भवतीत्यतस्तमाय रजसो—मौनेनाऽनवद्य भाषणेन वाहित्वा (त्यक्त्वा) तेऽनवद्यभाषिणो निर्वाणं—मोक्षं प्राप्नु-वन्ति ॥ २१ ॥ (सूत्रकृतांग वृत्ति ११-२०-२१)

२३६—आगमविहिअणिसिद्धे, अहिगिच्च पसंसणे णिसेहे अ।

लेसेण विणो दोसो, एस महावक्क-गम्मत्थो।

आगमे सिद्धान्ते विहितं निषिद्ध च दानमधिकृत्य प्रशसने निषेधे च लेशेनापि न दोषः। सत्प्रवृत्तिरूपस्य विहितदानव्यापारस्य हिंसारूपत्वाऽभावेन तत्प्रशसने हिंसानुमोदनस्याप्रसङ्गात्। प्रत्युत् सुकृताऽनुमोदनस्यैव सम्भवात् निषिद्धदान-व्यापारस्य च असत्प्रवृत्तिरूपस्य निषेधे वृत्तिच्छेदपरिणामाभावेनान्तरायानर्ज-नात्। प्रत्युत् परहितार्थप्रवृत्त्यान्तरायकर्मविच्छेद एव। तदिदमुक्तमुपदेशपदे—
"आगमविहिअं तं तं पडिसिद्धं चाहिगिच्च णो दोसो वि।

(उपदेश रहस्य १७२)

२३७—अतिहि समणो तस्सन्नापाणाइ सम्मप्पणं। सक्कारज्जेहिं अइहि संविभागे पकित्तिओ। (उपासक दशा वृत्ति १)

अतिथिः साधुरुच्यते। (धर्म संग्रह ३ अधि०)

अतिहिंसविभागो नाम आयरणुग्गह बुद्धीए संजयाणं दाणं।

(आवश्यक वृहद् वृत्ति अ० ४)

२३८—(निशीथ चूर्णि २ उ)

२३९—समणो वासएणं भन्ते! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति? गोयमा! एगंतसो निज्जरा कज्जइ नत्थि य से पावे कम्मे कज्जति। (भगवती ८-६)

२४०—समणो. वासगस्सणं भन्ते! तहारूवं असंजय अविरए अपडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण-पाणं जाव किं कज्जइ? गोयमा! एगतसो से पावे कम्मे कजइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ। (भगवती ८-६)

२४१—जे भिक्खु अण्णउत्थिएण गारत्थिएण वा असणंवा ४ देयइ देयन्तं वा साइज्जइ। (निशीथ १५-७८)

२४२—संजयासंजये धम्माधम्मे ठिए धम्माधम्मं उवसंपज्जिताणं विहरइ।

(भगवती १७-२-३)

२४३—त्रयो धर्मस्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययनदानमिति प्रथमः··· ······सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। (छान्दोग्योपनिषद् २-२३-१)

२४४—श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। (तैत्तरीयोपनिषद् १-११-३)

२४५—तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउ अत्ताते कम्म पगरेति, तं जहा—णो पाणे अतिवातित्ता भवइ णो मुसं वइत्ता भवइ तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमसित्ता सक्कारित्ता समाणेत्ता कल्लाण मंगलं देवतं चेतितं पज्जुवासेत्ता मणुन्नेण पीतिकारएण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउ तत्ता ते कम्मं पगरेति। (स्थानांग ३-१२५)
समणो वासएण भन्ते तहारूव समण वा जाव पडिलाभेमाणे किं चयति ?
गोयमा। जीविय चयति दुच्चयं चयति दुक्कर करेति दुल्लहं लहइ बोहिं बुज्झइ तओ पच्छा सिज्झति जाव अन्त करेति। (भगवती २६३)

२४६—मोक्खत्थ ज दाण तं पइ एसो विही समक्खाउ। (ज्ञानबिन्दु प्रकरण पृ० ७८)

२४७—दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सुग्गइं॥ (दशवैकालिक ५-१-१००)

२४८—(भगवती ८-६)

२४९—ऐन्द्रशर्मप्रद दान, मनुकम्पासमन्वितम्।
भक्त्या सुपात्रदान तु, मोक्षद देशितं जिनैः। (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १)
अभय सुपत्तदाणं, अणुकम्पा उचिअ कित्तिदाण च।
दोहि वि मुक्खो भणियो, तिन्नि वि भोगाइयं दिंति॥
(उपदेश तरङ्गिणी पृष्ठ १५)

२५०—इसका विशेष वर्णन 'धर्म और पुण्य' शीर्षक में देखो।

२५१—(छान्दोग्योपनिषद् २-२३-१)

२५२—पुण्णठा पगड इमं· · ·संजयाण अकप्पियं।
दिंतिय पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं। (दशवैकालिक ५-४६)

२५३—"पात्रायान्नदानाद् यस्तीर्थकर्मनामादिपुण्यप्रकृतिबन्धस्तदन्नपुण्यम्, एवं सर्वत्र।"
(स्थानांग वृत्ति ९)

२५४—अथ दीनादीनामसंयतत्वात् तद्दानस्य दोषपोषकत्वादसंगतं तद्दानमित्याशङ्कयाह— (पञ्चाशक ९ वि०)

२५५—असंयताय शुद्धदानम्, असंयतायाऽशुद्धदानमित्यभिलापाः। शेषौ तृतीयचतुर्थभङ्गौ अनिष्टफलदौ एकान्तकर्मबन्धहेतुत्वान्मतौ। शुद्धं वा यदशुद्धं वाऽसंयताय प्रदीयते। (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १-२१)

गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्म—बन्धकृन्नानुकम्पया ॥ न पुनरनुकम्पया, अनुकम्पा-दानस्य क्वाप्यनिषिद्धत्वात्। "अणुकपादाणं पुण, जिणेहिं कयाइ पडिसिद्धं।
इतिवचनात्। (द्वात्रिंशिद् द्वात्रिंशिका १-२७)

२५६—(स्थानांग १०)

२५७—सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जयतियरागदोसमोहेहिं।
अनुकंपादाणं सड्ढयाण न कहिं वि पडिसिद्धं ॥ (धर्मसग्रह २ अधि०)

२५८—श्रीजिनेनापि सावत्सरिकदानेन दीनोद्धारः कृत एव। (धर्मसंग्रह २ अधि०)

२५९—(उपदेशपद)

२६०—तीर्थंकृद्दीयमाने वरघोषणायां सत्यां श्रावको योषिच्च तद्दानं गृह्णीतः, न वेति प्रश्ने उत्तरम्—तीर्थंकृद्दानसमये ज्ञाताधर्मकथादिषु सनाथानाथपथिककार्पटिका-दीनां याचकादीनां ग्रहणाधिकारो दृश्यते, न तु व्यवहारिणाम्, तेन श्रावकोऽपि कश्चिद् याचकीभूय गृह्णाति तदा गृह्णातु। (सेनप्रश्नोत्तर ३ उल्ला०)

२६१—उच्यते कल्प एवास्य, तीर्थंकृन्नामकर्मणः।
उदयात् सर्वसत्त्वानां, हित एव प्रवर्तते ॥ (हारिभद्रीय २ अष्टक)

२६२—अवंगुय दुवारा, (भगवती २-५, सूत्रकृताग २-२ तथा २-७)

२६३—अपावृतद्वाराः कपाटादिभिरस्थगितद्वारा इत्यर्थः। सद्दर्शनलाभेन न कुतोऽपि पार्षंडिकाद् बिभ्यति शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटशिरसस्तिष्ठन्तीति भावः।
(भगवती वृत्ति २-५)

२६४—ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समक्षतः।
अन्तर्वेद्यां हि यद् दत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥
वापीकूपतडागानि, देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमेतत्तु, पूर्तं तत्त्वविदो विदुः ॥

२६५—स्तोकानामुपकारः स्यादारम्भाद् यत्र भूयसाम्।
तत्रानुकम्पा न मता, यथेष्टापूर्तकर्मसु ॥ (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १-४)

२६६—पुष्टालम्बनमाश्रित्य, दानशालादि कर्म यत्।
तत्तु प्रवचनोन्नत्या, बीजाधानादिभावतः ॥ (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १-५)

२६७—बहूनामुपकारेण, नानुकम्पा निमित्तताम्।
अतिक्रामति तेनात्र, मुख्यो हेतुः शुभाशयः ॥ (द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १-६)

२६८—याज्ञिकी हिंसा न दुष्यति, तस्या वैधत्वात्। पापजनकतापेक्षया पुण्यजनकता-
यास्तत्र बाहुल्यात्।

२६९—(नन्दी वृत्ति पृष्ठ १३)

२७०—(गीता रहस्य पृ० १२७)

२७१—(हिन्दी विश्व भारती २२ अक्टूबर १९५०)

२७२—नो वि पये न पयावए जे स भिक्खु। (दशवैकालिक १०-४)

२७३—यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्य स धर्मः।
मायाचारी मायया बाधितव्यः, साध्वाचारः साधुनैवाभ्युपेयः॥

२७४—नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। (मनुस्मृति ८-५१)

(महाभारत शान्ति पर्व १०९ २९)

२७५—ये स्तनार्य्या न शिष्याः स्युः सन्तिन्चेदाततायिनः।
क्षिप्र व्यापादनीयास्ते, तद्वधो नहि दोषदः॥

२७६—क्वचिद्दया निर्दयता क्वचित्।

२७७—"दाण दाइ" दायकाना गोत्रिकाणां दायधनविभाग परिभाज्य विभागशो दत्त्वा तदावर्नी अनाथपान्थादियाचकानामभावाद् गोत्रिकाग्रहण तेऽपि च भगवत्प्रेरिता निर्ममा. सन्तः रूपमात्र जगृहुः। इदमेव हि जगद्गुरोर्जीत यदीच्छावधिदान दीयते तेषा च इयतैव इच्छापूर्तेः। ननु यदीच्छावधिक प्रभोर्दान तर्हि एद-युगीनो जन.।
एकदिनदेय संवत्सरदेय वा एक एव जिघृक्षेत् इच्छाया अपरिमितत्वात्। सत्य प्रभुप्रभावेण एतादृशेच्छाया असभवात्। (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २ वक्ष०)

२७८—दत्तिव्व दाणमसुभ, दित्त दट्ठु जणम्मि वि पयत्त।
जिण भिक्खा दाणं पि य, दट्ठु भिक्खा पयत्ता उ॥

दत्तिर्नाम दान तच्च भगवन्तमृषभस्वामिन सावत्सरिक दान ददतं दृष्ट्वा लोकेऽपि प्रवृत्तम्। यदि वा दत्तिर्नाम भिक्षादानं तच्च जिनस्य भिक्षादान प्रपौत्रेण कृत दृष्ट्वा लोकेऽपि भिक्षा प्रवृत्ता। लोका अपि भिक्षा दातु प्रवृत्ता इति भावः।

(आवश्यक मलय गिरि प्र० ५९)

२७९—'दाण च माहणाणं, दान च माहनाना लोको दातु प्रवृत्तो भरतपूजितत्वात्।

(आवश्यक मलय गिरि प्र० ५९)

२८०—पात्रापात्रविभेदोऽस्ति, धेनुपन्नगयोरिव।
तृणात् संजायते क्षीरं, क्षीरात् संजायते विषम्॥

२८१—व्रतस्था लिङ्गिनः पात्रमपचास्तु विशेषतः।
स्वसिद्धान्ताविरोधेन, वर्तन्ते ये सदैव हि॥ (योगबिन्दुसार १२२)
पात्रे दीनादिवर्गे च, दानं विधिवदीष्यते।
पोष्यवर्गाविरोधेन, न विरुद्धं स्वतश्च यत्॥ (योगबिन्दुसार १२१)
दीनान्धकृपणा ये तु, व्याधिग्रस्ता विशेषतः।
निःस्वाः क्रियान्तराशक्ता, एतद् वर्गो हि मीलकः॥ (योगबिन्दुसार १२३)
अपात्रदानतः किञ्चिन्न फलं पापतः परम्।
लभ्यते हि फलं खेदो, वालुकापुञ्जपीडने॥ (अमितगति श्रावकाचार ११-६०)
विश्राणितमपात्राय, विधत्तेऽनर्थमूर्जितम्।
अपथ्यं भोजनं दत्ते, व्याधिं किन्न दुरुत्तरम्॥ (अमितगति श्रावकाचार ११-६१)
वितीर्य यो दानमसंयतात्मने, जनः फलं काङ्क्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य वीजं ज्वलिते स पावके, समीहते शस्यमपास्तदूषणम्॥
(अमितगति श्रावकचार १०-५४)
दाणं न होइ अफलं, पत्तमपत्तेसु सन्निजुज्जंतं।
इयवि भणिए विदोसा, पसंसओ किं पुण अपत्ते॥ (पिण्ड निर्युक्ति ४५५)
वीजं यथोषरे क्षिप्तं, न फलाय प्रकल्प्यते।
तथाऽपात्रेषु यद्दानं, निष्फलं तद् विदुर्बुधाः॥

२८२—वीतरागोऽपि सद्वेद्य—तीर्थकृन्नामकर्मणः।
उदयेन तथा धर्म—देशनाया प्रवर्तते॥ (हारिभद्रीय अष्टक ३१-१)

तओण समणे भगवं महावीरे उप्पन्नवरनाणदंसणधरे अप्पाण च लोगं च अभिसमिक्ख, पुव्वं देवाण धम्ममाइक्खइ ततो पच्छा मणुस्साणं। (आचारांग २)

२८३—(उपासकदशा १ अ०, औपपातिक सम० द्वार०)

२८४—अग्गं च मूलं च छिन्धि। (आचारांग ३-२-६)

२८५—तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ, तं जहा—अगारधम्मं, अणगारधम्मं च।
(औपपातिक सम० द्वा०)

२८६—(जइवीद पृष्ठ ५५)

२८७—आत्मास्तित्वमूलत्वात् सकलधर्मानुष्ठानस्य। (उत्तराध्ययन बृहद वृत्ति १४-१७)

२८८—(दशवैकालिक ६-४१)

२८९—(उत्तराध्ययन ६-४१-५३)

२९०—(उत्तराध्ययन १४-१६-१७)

२९१—(अहिंसा भाग १ पृष्ठ ३५, ३६)

२९२—(अहिंसा भाग १ पृष्ठ ३५, ३६)

२९३—(उत्तराध्ययन २६-४)

२९४—"दर्शन और चिन्तन" (जैनधर्म और दर्शन, पृष्ठ १४६ १४७)

२९५—(वही पृष्ठ ३)

२९६—(भगवती सूत्र ८)

२९७—(अमितगति श्रावकाचार)

२९८—(अमितगति श्रावकाचार, आचाराग टीका आदि-आदि।)

२९९—(मनुस्मृति ३-६८)

३००—(भूदान १७ अप्रैल १९५९ का पेज ७ वाँ)

३०१—(बारह व्रत की चौपाई, ढाल पहली १-१३)

३०२—पयाहियाए उवदिसइ (जम्बूद्वीप २)

३०३—कर्माणि च कृपिवाणिज्यादीनि, जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि।
त्रीण्येतानि प्रजाया हितकराणि, निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वात्॥

(जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति३)

३०४—एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्त्तव्यमात्मनः॥

(त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र १-२-९७)

३०५—(तत्त्वार्थ राजवार्तिक ३-३६)

३०६—(एकआस्रव प्रथम द्वार)

३०७—(अहिंसा १ पृष्ठ ५३)

३०८—(हिन्दुस्तान दैनिक, नई दिल्ली, शनिवार २१ सितम्बर, १९४६)

परिशिष्ट : २ :

पारिभाषिक शब्द कोष

अघाती-कर्म (पृ० २२)—वे कर्म, जो आत्मा के मूल गुणों का नाश न करें। वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य—ये चार अघाती कर्म हैं।

अचित्त महास्कन्ध (पृ० १४)—केवलीसमुद्‌घात के पांचवें समय में आत्मा से छूटे हुए पुद्‌गल जो समूचे लोक में व्याप्त होते हैं, वे।

अणुव्रत (पृ० ५६, ६६)—छोटे व्रत, वे व्रत, जो अवधि-सहित ग्रहण किए जाते हैं।

अतिथि-सविभाग व्रत (पृ० ४८)—अतिथि का अर्थ है—साधु-श्रमण। आत्मा की अनुग्रह बुद्धि से पांच महाव्रतधारी मुनि को दान देना अतिथि-संविभाग है। यह श्रावक का बारहवाँ व्रत है।

अदृष्ट (पृ० १८)—सञ्चित कर्म, मीमासकों की परिभाषा में 'अपूर्व'।

अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्म (पृ० २२) वह कर्माशय जिसका फल तत्काल नहीं होता।

अधर्मदान (पृष्ठ ४८,५३)—वह दान जिससे अधर्म—पाप की वृद्धि हो।

अनात्मवादी (पृ० ६५,६७,७२)—आत्मा को नहीं मानने वाला, नास्तिक।

अनास्रव (पृ० २१)—कर्म-बन्धन से मुक्त।

अनिवार्य हिंसा (पृ० ६८)—ऐसी हिंसा जिसके विना जीवन का निर्वाह न हो।

अनुकम्पा (पृ० ३३,३६,४०,४४,५३,५४,५५,५७)—दया, करुणा जनक दृश्य देख कम्पित होना।

अनुकम्पा दान (पृ० ४८,५०,५३,५८)—किसी व्यक्ति की दीनावस्था से द्रवित होकर उसके भरण-पोषण के लिए दिया जाने वाला दान।

अनुभाग (पृ० २२)—कर्मों का विपाक फल, रस आदि।

अन्तराय (पृ० ४८)—विघ्न, वाधा।

अन्तराय कर्म (पृ० २२)—दान आदि में वाधा डालने वाला कर्म।

अन्नदान (पृ० ४८)—एक प्रकार का लौकिक दान। अन्न का दान करना।

अन्न-पुण्य (पृ० ५१)—संयमी को अन्न देने से होने वाला पुण्य।

अपश्चानुपूर्वी (पृ० २०)—जो न पहले हो और न पीछे।

अपात्र (पृ० ५८)—जो व्यक्ति जिस कार्य के लिए योग्य न हो, वह उस कार्य के लिए 'अपात्र' कहलाता है।

अभयदय (पृ० ४२)—अभयदान देने वाला।

अभयदान (पृ० ४०,४१,४२,४८,५३)—दूसरो को भय-मुक्त करना और स्वयं भय-मुक्त होना।

अभव्य (पृ० ३)—वह जीव जिसमें मुक्त होने की योग्यता नहीं होती।

अभिनिवेश (पृ० ३)—आग्रह, मिथ्यात्व।

अभिवचन (पृ० ४७)—कथन।

अभ्युदय (पृ० १,७,३५, ६७,७२)—भौतिक समृद्धि, लौकिक विकास।

अमूर्त्त (पृ० ११,१३,२०,२२)—जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श आदि न हो।

अरिहन्त (पृ० ३६)—पाच पदो में पहला। जो राग, द्वेष, मोह आदि शत्रुओ का क्षय कर वीतराग वन जाते हैं।

अविद्या पृ० १८)—अनादि-अज्ञान, माया, जिससे चेतन तत्त्व अनादि काल से आच्छन्न हो रहा है।

अविरत (पृ० ४४)—अत्याग वृत्ति।

अविहित-अनिषिद्ध (पृ० ५६)—जिस कार्य के आचरण का न विधान हो और न निषेध।

अव्रत (पृ० ४४)—अत्यागभाव।

अशुक्ल-अकृष्ण (पृ० २५)—योगदर्शन में वर्णित कर्म की एक जाति। तप, ध्यान आदि कर्मों के फल की इच्छा न करने तथा निषिद्ध कर्मों को न करने की योगियों की वृत्ति।

अशुभ आयुष्य (पृ० ३१)—कष्टपूर्ण आयु, अल्प आयु।

अशुभ नामकर्म (पृ० ३४,३६)—जिसके उदय से वदनामी हो।

अशुभ योग (पृ० ३४)—मन, वचन और काया की पापमय प्रवृत्ति।

असंयति-दान (पृ० ४८,५०,५२,५३,५८)—संयमहीन व्यक्तियों को दिया जाने वाला दान।

असात वेदनीय (पृ० ३१) जिस कर्म से दुःख की अनुभूति हो।

अस्तिकाय (पृ० १४,१५)—प्रदेशों का समूह।

अस्तिता (पृ० १२)—अस्तित्व।

अहिंसा (पृ० ३३, ३६,३७,,३८,३९,४०,४१,४२,४३,४४,४७,४८,५७,६८,७०, ७१,७२)—प्राणीमात्र के प्रति संयम रखना, उनको कष्ट न पहुंचाना तथा उनके प्रति मैत्री रखना।

आगम (पृ० ३,४,८,९,१५,१४,३४,४४)—आप्त पुरुष के वचन से होने वाला अर्थ-बोध। 'जैन सूत्र' आगम कहलाते हैं।

आज्ञा-रुचि (पृ० ६)—जिस मनुष्य के राग, द्वेष, मोह और अज्ञान दूर हो जाते हैं और जो आज्ञा—भगवत् प्रवचन मे रुचि रखता है, वह।

आत्मवादी (पृ० ६५,६७,७२)—आत्मा को मानने वाला, आस्तिक।

आत्मौपम्य (पृ० ६९)—आत्म-सदृशता।

आनन्द श्रावक (पृ० ७०)—भगवान् महावीर का बारह व्रतधारी श्रावक।

आरम्भ (पृ० ३६,५३,५४)—हिंसा।

आर्तध्यान (पृ० ७०) रोगादि कष्टों मे व्याकुल होना तथा वैषयिक सुख पूर्ति के लिए दृढ सकल्प करना।

आलय-विज्ञान (पृ० १४)—चित्त, आलय का अर्थ घर हैं। चित्तरूपी घर मे सभी विज्ञान पड़े रहते हैं और व्यवहार के समय वे प्रकृति-विज्ञान कहलाते हैं। व्यवहार के बाद वे पुनः इसी में लीन हो जाते हैं।

आवलिका (पृ० १३)—सर्व सूक्ष्म काल-विभाग को समय कहते हैं। ऐसे असख्य समयों की एक आवलिका होली है ४८ मिनटों की १, ६७, ७७, २१६ आवलिकाएँ होती हैं।

आशीविष सर्प (पृ० ६५)—जिसकी दाढा में विष हो।

आस्तिक (पृ० ६३)—वह व्यक्ति जो बन्धन, बन्धन-मुक्ति और मोक्ष-मार्ग मे विश्वास करता है।

आस्तिक दर्शन (पृ० १८,२०)—वह दर्शन-पद्धति जिसमे आत्मा, स्वर्ग, नरक, कर्म आदि का विचार हो।

आस्रव (पृ० १७,१८,३३,३४)—जीव का जो परिणाम शुभ तथा अशुभ कर्म-पुद्गलो को आकृष्ट कर उनको आत्म-प्रदेशों के साथ घुला मिला देता है, उसे आस्रव—कर्मागमन का द्वार कहते हैं।

इष्टापूर्त (पृ० ५३)—यज्ञ और जलाशय आदि बनाना।

उच्छेदवाद (पृ० ४)—आत्मा का विनाश मानने वाला वाद, पुनर्जन्म को अस्वीकार करने वाला दर्शन।

उत्पाद (पृ० ६)—त्रिपदी (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) का पहला पद।

उदय (पृ० १६,२१,२२,२३,२४,२५,३१)—कर्म की एस अवस्था। उदीरणा करण के द्वारा अथवा स्वाभाविक रूप से आठों कर्मों का अनुभव होना।

उदीरणा (पृ० २२)—कर्म की एक अवस्था। निश्चित समय से पहले कर्मों का उदय होना।

उपशम (पृ० २३,२४,२५)—उदयावलिका में प्रविष्ट मोह-कर्म का क्षय हो जाने पर अवशिष्ट मोह-कर्म का सर्वथा अनुदय होना।

एषणीय (पृ० ४६)—शुद्ध।

औदयिक (पृ० २५)—कर्म के उदय के द्वारा होने वाली आत्म-अवस्था।

औपशमिक (पृ० २५)—उपशम से होने वाली आत्म-अवस्था।

कन्यादान (पृ० ६६)—कन्या का दान।

करिष्यति दान (पृ० ४८)—लाभ के बदले की भावना से दिया जाने वाला दान।

करुणा (पृ० ६६)—अनुकम्पा।

कर्म (पृ० १५,१८,१६,२०,२१,२२,२८,२६,३०)—आत्मा की सत् एवं असत् प्रवृत्तियों के द्वारा आकृष्ट एवं कर्म रूप में परिणत होने योग्य पुद्गल।

कर्म (पृ० २७)—कार्य।

कर्म प्रकृति (पृ० २३)—कर्मों का स्वभाव।

कलि (पृ० ३७,४१)—कलियुग—युग का एक विभाग।

कापोत लेश्या (पृ० २४,२५,२६)—कापोत वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय। अशुभ-अधर्म-अप्रशस्त लेश्या।

काम भोग (पृ० ६५,६६)—जिनकी कामना की जाती है और जो भोगे जाते हैं, वे शब्द आदि इन्द्रियों के विषय।

कारुण्य-दान (पृ० ४८)—शोक के सम्बन्ध में दिया जाने वाला दान।

कालोदधि—(पृ० १६)—धात की खण्ड को परिवेष्टित करने वाला समुद्र।

कुपात्र (पृ० ५८)—देखो 'अपात्र'।

कुप्रावचनिक धर्म (पृ० ३६)—जैनेतर धर्म।

कुल (पृ० ३१, ३२)—वंश, गोत्र, घराना, एक जाति वालों का समूह।

कुल-धर्म (पृ० ३६)—अपने-अपने कुल की मर्यादाएं।

कृत (पृ० ३७)—युग का एक विभाग।

कृत-दान (पृ० ४८)—किये हुए उपकार को याद कर दिया जाने वाला दान।

कृष्ण (पृ० २५)—योग दर्शन में वर्णित कर्म की एक जाति। दुर्जन व्यक्तियों के कर्म।

कृष्ण लेश्या (पृ० २४,२५,२६)—कृष्ण—पुद्गलों के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय। अशुभ-अधर्म-अप्रशस्त लेश्या।

क्रमभावी गुण (पृ० ६)—पर्याय।

क्लेश (पृ० १८)—विपर्यय, अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—ये पांच साङ्ख्याभिमत क्लेश हैं।

क्लेश (पृ० ३८)—कलह।

क्लेशाशय (पृ० ३३)—क्लेश का स्थान, क्लेश-संस्कार।

गण-धर्म (पृ० ३६)—गण (कुल-समूह) की समाचारी—आचार-मर्यादा।

गति तत्त्व (पृ० १०,११)—धर्मास्तिकाय का अपर नाम।

गमक (पृ० ३२)—बोध कराने वाला।

गम्य धर्म (पृ० ३६)—वह लौकिक व्यवस्था जिसका सम्बन्ध अमुक अमुक से विवाह कर सकने या न कर सकने से होता है।

गारवदान (पृ० ४८)—यश-गान सुनकर एवं बराबरी की भावना से दिया जाने वाला दान।

गुप्ति (पृ० ६६)—निग्रह।

गोत (पृ० ३०)—गोत्र।

गोष्ठी-धर्म (पृ० ३६)—गोष्ठी की आचार-व्यवस्था।

ग्राम-धर्म (पृ० ३५,३६)—गाँव की व्यवस्था (आचार-परम्परा)।

घाती कर्म (पृ० २२,२३,२४)—जो कर्म आत्मा के मूल गुण—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की घात करें, वे। घाती कर्म चार हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीयकर्म और अन्तराय कर्म।

चारित्र (पृ० २३,३६)—आचार।

चेतना सन्तति (पृ० १४)—चित्त की परम्परा।

छह काय (पृ० ४०,४६)—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रसकाय।

छाया (पृ० १४)—चेतन या अचेतन पदार्थों से प्रत्येक समय निकलने वाला पुद्गल समूह जब यथायोग्य निमित्त या प्रतिबिम्बित होता है तब उसे छाया कहते हैं।

जम्बूद्वीप (पृ० १७) एक लाख योजन का भूखण्ड।

जल्प (पृ० ५)—जिस कथा-सन्दर्भ में छल, जाति और निग्रह-स्थान का प्रयोग किया जाय।

जाति-धर्म (पृ० ३६,३७)—जातिगत आचार-विचार आदि।

जानपद-धर्म (पृ० ३६)—नागरिकों का कर्त्तव्य आदि।

जिन (पृ० २)—तीर्थङ्कर।

ज्ञान-दान (पृ० ४१,४२,५३)—धर्मोपदेश देना, धर्म-कथा करना आदि।

तज्जीव तच्छरीरवाद (पृ० ७)—जीव और शरीर को एक मानने वाला अनात्मवादी दर्शन।

तत्त्व ज्ञान (पृ० ६)—बन्धन, बन्धन के हेतु; मोक्ष, मोक्ष के हेतु—इन चारों का ज्ञान।

तपस्या (पृ० २१,२२,३३,४७)—आत्म-शुद्धि के लिए की जाने वाली एक विशिष्ट साधना, जिसमें अन्न-पान आदि बाह्य पदार्थ तथा क्रोध-मान आदि आन्तरिक दोषों का त्याग किया जाता है।

तीर्थङ्कर (पृ० ४२)—तीर्थ की स्थापना करने वाले अरिहन्त।

तेजोलेश्या (पृ० २४,२५,२६)—तेजस् पुद्गलो के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय। शुभ-धर्म-प्रशस्त लेश्या।

त्रस पृ० ३६,७१)—चलने-फिरने वाले जीव।

त्रिकरण त्रियोग (पृ० ४२)—तीन करण—करना, कराना और अनुमोदन करना, तीन योग—मन, वचन और काया। साधु के त्याग तीन करण—तीन योग से होते हैं।

दर्शन (पृ० २,३,४,५,६,७,८,१८)—दृष्टि।

दर्शन-शास्त्र (पृ० ८,३६)—धर्म के द्वारा अभिमत तत्त्वों को तर्क की कसौटी पर कसने वाला तर्क-शास्त्र।

दर्शनावरणीय (पृ० २२)—वे कर्म-पुद्गल जों दृष्टि को आवृत करते हैं।

दानशाला (पृ० ४८,५४,५५)—जहाँ दीन दुखियो को दान दिया जाता है।

दीक्षा (पृ० ५३,५८)—सांसारिक झंझटों से दूर, त्यागमय जीवन।

दुःखत्रयाभिघात (पृ० ४६)—दुःख तीन प्रकार के माने गए हैं—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। इनका समूल नाश करना ही साख्य-दृष्टि से मोक्ष है।

देशगुण (पृ० २३)—आंशिक गुण।

देशाचार (पृ० ३७)—देश की आचार परम्परा।

द्रव्य-अनुकम्पा (पृ० ५१)—मोह वश की जाने वाली अनुकम्पा—दया।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (पृ० २१)—वस्तु को जानने के विभिन्न दृष्टिकोण।

द्रव्य-दया (पृ० ४७)—प्राण-रक्षा।

द्रव्य-लोक (पृ० १६)—छह द्रव्यात्मक लोक।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (पृ० ८)—वस्तुओं या सामाजिक संस्थाओं में जो पारस्परिक विरोध या द्वन्द्व होता है वही परिवर्तन का कारण बनता है। पहली अवस्था 'वाद' है उसकी विरोधी अवस्था 'प्रतिवाद' और इन दोनों के पारस्परिक द्वन्द्व से उत्पन्न होने वाली तीसरी अवस्था 'संवाद' है। यह इतिहास-विकास का क्रम है। इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं।

धर्म (पृ० १०,११,१२,१३,१४,१५,१६)—आत्म-शुद्धि का साधक तत्त्व।

धर्म-दान (पृ० ४८,५१)—जिस दान से अपना या पर का संयम प्रवृद्ध होता है।

धर्म-नीति (पृ० ५६)—धार्मिक पद्धति।

धर्मस्कन्ध (पृ० ५०)—धर्म का आधार।

धर्मोपग्रह दान (पृ० ४१, ४२)—धर्म को प्रोत्साहित करने वाला दान।

ध्रौव्य (पृ० ६)—द्रव्य का एक गुण।

नय (पृ० ३)—वस्तु के किसी एक अंश को जानने वाले और अन्य अंशों का खण्डन न करने वाले ज्ञाता का अभिप्राय।

निगमन (पृ० ३४)—हेतु, उदाहरण, उपनय, के उपरान्त सिद्ध की गई प्रतिज्ञा का पुनः कथन।

निर्जरा (पृ० १७,१८,३२,३६,४६,५०,६६)—कर्मों के क्षय से होने वाली आत्म-उज्ज्वलता।

निरवद्य (पृ० ५३)—पाप रहित।

निर्विकल्प समाधि (पृ० ६८)—अयोगावस्था।

निश्चय-दृष्टि (पृ० १३,२०,२८)—वास्तविक दृष्टि।

निश्रेयस (पृ० ४)—मोक्ष।

निषेध-वाक्य (पृ० ५४)—जिस वाक्य में कार्य का निषेध किया गया हो, वह।

नील लेश्या (पृ० २४,२५,२६)—नील पुद्गलों के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय। अशुभ-अधर्म-अप्रशस्त लेश्या।

नीहारिका (पृ० १७)—कुहरे या धुएँ की तरह आकाश में छाया रहने वाला-प्रकाश-पुञ्ज जो ग्रह-नक्षत्रों का उपादान माना जाता है।

नैगम (पृ० ३)—सात नयों में पहला नय।

पट्टावली (पृ० ५१)—गुरु-परम्परा का इतिहास।

पद्म लेश्या (पृ० २४,२५,२६)—पीत वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय शुभ-धर्म-प्रशस्त लेश्या।

पर-तीथिक (पृ० ५३)—जैनेतर मतावलंबी।

परमाणु (पृ० १०,१४,१५,१८,२१)—अविभाज्य पुद्गल।

परमार्थ (पृ० ४३)—आध्यात्मिक, मोक्ष की इच्छा।

पर्याय (पृ० ६,१३,३२,३६)—पदार्थ का वह धर्म जो सहभावी न हो।

पान-पुण्य (पृ० ५१)—संयति मुनि को पान आदि देने से होने वाला पुण्य।

पाप-धर्म (पृ० ३५)—दुराचार।

पुद्गल (पृ० १०,१३,१४,१५,१८,२१,२४,३२,६३)—जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हो, वह।

पुण्य दान (पृ० ५८)—पुण्य के लिए दिया जाने वाला दान।

पुरुष (पृ० १०)—सांख्याभिमत एक तत्त्व, जो समस्त क्रियाएँ करता है। परन्तु उनका फलोपभोग नहीं करता।

पुरुषकार (पृ० १५)—पराक्रम।

पूर्ण अक्रिया (पृ० ६८)—चतुर्दश गुण-स्थान की अवस्था।

पूरण गलन (पृ० १४)—पुद्गल का लक्षण।

पूर्ण संवर (पृ० ६८)—चतुर्दश गुण-स्थान में मन, वचन और काय-योग के सम्पूर्ण निरोध से होने वाला संवर।

पौद्गलिक (पृ० १४,१६,२०,२२,२३)—पुद्गल से बनी हुई वस्तु, भौतिक।

प्रकृति (पृ० ६८,६६,७२)—साख्याभिमत एक तत्त्व, जो पुरुष (तत्त्व) को जन्म-मरण के चक्र में प्रेरित करता है।

प्रकृति (पृ० १६)—कर्मों का स्वभाव, बन्ध का एक भेद।

प्रतिक्रमण (पृ० ३४)—जैन मुनि की एक आवश्यक क्रिया जो कि रात्रि के प्रथम मुहूर्त्त और अन्तिम मुहूर्त्त मे की जाती है। इसके द्वारा आत्म-निरीक्षण और जान-अजान में हुए पाप-कर्मों का स्मरण और प्रायश्चित्त किया जाता है।

प्रदेश (पृ० १६)—वस्तु का निरंश अंश।

प्रदेशोदय (पृ० २३)—कर्म के उदय की वह अवस्था, जिसका विपाक न हो, अनुभूति में आये वैसा परिणाम न हो।

प्रवचन (पृ० ५४)—जैनागम।

प्रागभाव (पृ० २०)—किसी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण मे जो उसका अभाव होता है, उसे प्रागभाव कहते हैं।

प्राण (पृ० ३६,४०)—जीवन-शक्ति।

प्रायश्चित्त (पृ० २२,३४)—अतिचार की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान।

प्रेय (पृ० ३५)—भौतिक समृद्धि।

बन्ध (पृ० १६,२१)—आत्म-प्रवृत्ति के द्वारा कर्म-पुद्गलों का स्वीकरण और आत्मा के साथ उनका एकीकरण।

भय-दान (पृ० ४८)—भय वश दिया जाने वाला दान।

भाव-अनुकम्पा (पृ० ५५)—आत्म-साधना के लिए मोह-रहित की जाने वाली अनुकम्पा।

भाव-अहिंसा (पृ० ४०)—जिसमें आत्मा कर्म-मुक्त हो, राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति, संवर।

भाव-हिंसा (पृ० ४०)—जिस प्रवृत्ति से कर्म-बन्ध हो, राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति।

भूत (पृ० ४०,४१,४२)—वृक्ष, लताएं आदि वनस्पति के जीव।

महाव्रत (पृ० ६६)—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पूर्ण पालन।

मूर्त-(मूर्त्तिक) (पृ० १४)—जिसमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि हों। अमूर्त्त का प्रतिपक्षी।

मैथुन धर्म (पृ० ३५)—सम्भोग।

मोक्ष (पृ० ४,१७,१८,३३,३४,३६,६६,६८,६६)—कर्मों का सम्पूर्ण नाश, सिद्धालय, मुक्ति।

मोक्षार्थ दान (पृ० ५०)—मोक्ष की कामना से दिया जाने वाला दान।

मोहनीय (पृ० २२)—वे कर्म-पुद्गल जो आत्म गुण—दर्शन और चारित्र का घात करते हैं।

योग ऋजुता (पृ० ३३)—मन, वचन और काया की सरलता।

लज्जा (पृ० ४०,५०)—संयम।

लवण समुद्र (पृ० १६)—जम्बूद्वीप को परिवेष्टित करने वाला समुद्र।

लोकायत मत (पृ० ७)—वह दर्शन जो जीव, निवृत्ति, स्वर्ग, नरक, धर्म आदि को नहीं मानता।

वाद (पृ० ५)—तत्त्व जिज्ञासा के लिए दो या उससे अधिक व्यक्तियों के बीच में जो कथा अर्थात् पक्ष और विपक्ष के रूप में विचार-विनिमय हो।

वासना (पृ० १८,१९)—बौद्ध-सम्मत एक तत्त्व जो जैन-सम्मत 'कर्म' के निकट है।

वितण्डा (पृ० ५)—जिस 'जल्प' में किसी भी पक्ष का स्थापन न किया जाय।

विपाकोदय (पृ० २३)—जिस उदय में फल का अनुभव होता है।

विराधक (पृ० ४)—जो व्यक्ति अपने दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त नहीं करता और उससे पहले ही मर जाता है।

विस्तार-रुचि (पृ० ३)—जो व्यक्ति द्रव्यों के सभी भावों को सर्व प्रमाणों और सर्व नयों से जानता है, वह।

वीर्य (पृ० १५,२३)—शक्ति।

व्यावहारिक काल (पृ० १४)—सूर्य, चन्द्र कृत कालमान जिसके समय आवलिका, घंटा, वर्ष आदि विभाग हैं।

व्याप्ति (पृ० ३)—नित्य साहचर्य।

शुक्ल (पृ० २५)—योग-दर्शन में वर्णित कर्म की एक जाति। तपस्या, स्वाध्याय तथा ध्यान में निरत लोगों के कर्म।

शुक्ल कृष्ण (पृ० २५)—योग-दर्शन में वर्णित कर्म की एक जाति। बाह्य साधनों से उत्पन्न साधारण लोगों के कर्म।

शुक्ल लेश्या (पृ० २४,२५,२६)—सफेद वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाला आत्मा का अध्यवसाय। शुभ-धर्म-प्रशस्त लेश्या।

शुभ आयुष्य (पृ० ३१)—सुख-पूर्ण आयु, दीर्घ आयु।

शुभ कर्म (पृ० ३३,३४)—जिस कर्म के द्वारा पुण्य का बन्ध हो।

शुभ नाम कर्म (पृ० ३१)—जो नाम कर्म शुभ फलदायी हो।

शुभ योग (पृ० ३३,३४)—मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति।

शुभोपयोग (पृ० ३३)—आत्मा का शुभ व्यापार।

श्रमण परम्परा (पृ० २६,२७,२८)—जैन और बौद्ध परम्परा।

श्रेयस् (पृ० ३,४,५)—आध्यात्मिक।

श्रौत (पृ० ३) श्रुति—वेद में प्रतिपादित।

सत्ययुग (पृ० ४१)—युग का एक विभाग।

सहभावी गुण (पृ० ६)—सदा वस्तु के साथ रहने वाला गुण।

समय (पृ० १५)—काल का अत्यन्त सूक्ष्म विभाग।

समय क्षेत्र (पृ० १६)—जहाँ व्यावहारिक काल की स्थिति हो, मनुष्य क्षेत्र का अपर नाम।

समवायी कारण (पृ० २०)—वह कारण जो पृथक् न किया जा सके, उपादान कारण।

सम्यक्त्व (पृ० २३)—यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा।

सराग संयम (पृ० ३३)—रागयुक्त संयम।

सर्वघाती (पृ० २३)—कर्म का एक भेद, जो समस्त गुणों की घात करे।

सर्वज्ञ (पृ० ६)—त्रिकालदर्शी।

सहकारी (पृ० २१,२५)—सहायक।

सहभावी पर्याय (पृ० ३६)—सहचर पर्याय।

संक्षेप रूचि (पृ० ३)—जो व्यक्ति असत् मत या वाद में फंसा नहीं है और जो वीतराग के प्रवचन में विशारद भी नहीं है किन्तु जिसकी श्रद्धा शुद्ध है, वह।

संवर (पृ० १६,१८,३४,३६,५०,६६)—नौ तत्त्वों में से एक तत्त्व जो कर्मों के प्रवाह को रोकता है।

सात वेदनीय कर्म (पृ० ३१)—जिस कर्म से सुख की अनुभूति हो।

सावद्य (पृ० ३६)—सपाप।

सूक्ष्म स्कन्ध (पृ० १६)—परमाणुओं का सूक्ष्म एकीभाव।

स्कन्ध (पृ० १८)—परमाणुओं का एकीभाव।

स्थावर (पृ० ३६,७१)—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति के जीव।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष (पृ० ४)—मानसिक प्रत्यक्षानुभूति, आत्म-निश्चय।

स्वाध्याय (पृ० ३८,४७)—कालादि की मर्यादा से किया जाने वाला अध्ययन।

ह्री (पृ० ४१)—दया का अपर नाम।

परिशिष्ट : ३ :

शब्दानुक्रमणिका